खण्ड 3

ब्रह्मसूत्र– बादरायण (श्रीभाष्य, चतुःसूत्री)

इकाई 7 विशिष्टाद्वैत वेदान्त का परिचय

7.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप :

- भारतीय दर्शन से अवगत होंगे।
- दर्शन की शाखाओं का ज्ञान प्राप्त करेंगे।
- विशिष्टाद्वैत वेदान्त के विषय में जानकारी प्राप्त करेंगे।
- विशिष्टाद्वैत की तत्त्वमीमांसा से परिचित होंगे।
- विशिष्टाद्वैत की ज्ञानमीमांसा का परिचय प्राप्त करेंगे।
- विशिष्टाद्वैत की आचारमीमांसा से अवगत होंगे।

7.1 प्रस्तावना

दार्शनिक सरणियों में दर्शन शब्द की व्युत्पत्ति 'दृशिर प्रेक्षणे' धातु से करण अर्थ में 'ल्युट् प्रत्यय' तथा भाव अर्थ में 'घञ् प्रत्यय' करके 'दृश्यतेऽनेन इति दर्शनम्' तथा 'दृश्यते इति दर्शनम्' इस व्युत्पत्ति के अर्थ में स्वीकृत की जाती है। 'प्रेक्षण' का अर्थ है -विचार करना, अतः

इस व्युत्पत्ति के अनुसार विचार करने के सभी साधन तथा विचार क्रिया के समस्त विषय दर्शन के क्षेत्र में समाविष्ट हो जाते हैं। भारतीय दर्शन में मानव जीवन का परम लक्ष्य 'मोक्ष' को स्वीकार किया गया है। ऐकान्तिक एवं आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति अथवा निरतिशय-आनन्दानुभूति रूप मोक्ष की उपलब्धि विभिन्न भारतीय दर्शनों द्वारा उपदिष्ट साधना पद्धतियों का अनुपालन करने से देहनाश के उपरान्त होती है।

भारतीय दर्शनों को मुख्यतः आस्तिक एवं नास्तिक के भेद से विभाजित किया गया है। यदि हम लोकव्यवहार को देखें तो यह पाते हैं कि लोक में जो व्यक्ति ईश्वर पर श्रद्धा एवं विश्वास रखता है उसे आस्तिक माना जाता है और जिन्हें ईश्वर के अस्तित्व पर विश्वास नहीं है वे नास्तिक कहलाते हैं। किन्तु दर्शन में इस मान्यता को वर्गीकरण का आधार नहीं बनाया जा सकता है क्योंकि ऐसा स्वीकार करने पर सांख्य दर्शन एवं पूर्वमीमांसा दर्शन नास्तिक दर्शन की कोटि में आ जाएंगे। इन दोनों ही दर्शन परम्पराओं में ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया गया है। परन्तु ये दर्शन आस्तिक दर्शन की कोटि में ही परिगणित होते हैं। इसलिए आस्तिक एवं नास्तिक के इस वर्गीकरण का आधार वेदप्रामाण्य का स्वीकरण है। जो दर्शन वेदों में श्रद्धा रखते हैं अर्थात् वैदिक वाक्यों के प्रामाण्य को स्वीकार करते हैं, उन्हे आस्तिक दर्शन कहते हैं तथा जो वेदों को प्रामाणिक नहीं मानते हैं, उन्हें नास्तिक कहा जाता है। इस वर्गीकरण के अनुसार ये छह दर्शन आस्तिक दर्शन की कोटि में आते हैं- सांख्य-योग, न्याय-वैशेषिक तथा मीमांसा-वेदान्त। चार्वाक, बौद्ध तथा जैन इन तीन दर्शनों को नास्तिक कोटि में रखा जाता है।

वेदान्तदर्शन में प्रतिपादित 'वेदान्तो नामोपनिषदत्प्रमाणम्' इस वाक्य से ज्ञात होता है कि वेदान्तदर्शन उपनिषद् को ही प्रमाण स्वीकृत करता है जैसा कि वेदान्तसार के रचयिता आचार्य सदानन्द अपने ग्रन्थ में वेदान्त शब्द को परिभाषित करते हुए कहते हैं –**'वेदान्तो नामुपनिषत्प्रमाणं तदुपकारीणि शारीरकसूत्रादिनि च'**। वेदान्त के सिद्धान्तों को समझने के लिए सर्वप्रमुख शास्त्र उपनिषद् ग्रन्थ हैं। इन उपनिषदों में प्रतिपादित सिद्धान्तों का सरल ढंग से व्याख्यान करने के कारण शारीरकसूत्र तथा भगवद्गीता को भी वेदान्त कहा जाता है। शारीरकसूत्र का अर्थ महर्षि बादरायण प्रणीत ब्रह्मसूत्र है। वेदान्त दर्शन को प्रस्थानत्रयी के माध्यम से जिज्ञासु को समझाया जाता है। प्रस्थान शब्द का अर्थ है मार्ग या रास्ता। वेदान्त को समझने के तीन मार्ग हैं जिन्हें संयुक्त रूप से प्रस्थानत्रयी कहा जाता है। वे प्रस्थान हैं- श्रुति प्रस्थान, स्मृति प्रस्थान एवं न्याय प्रस्थान। उपनिषद श्रुति प्रस्थान में परिगणित होती हैं, भगवद्गीता स्मृति प्रस्थान का प्रतिनिधि ग्रन्थ है तथा ब्रह्मसूत्र को न्यायप्रस्थान का आधार माना जाता है।

इन्हीं उपनिषदों में निर्गुण तथा सगुण ब्रह्म दोनों को ही परमतत्त्व के रूप में स्वीकार किया है। प्रस्थानत्रयी (उपनिषद्, भगवद्गीता एवं ब्रह्मसूत्र) पर आधारित वेदान्त के अनेक सम्प्रदाय प्रचलित हुए जिनकी दो मुख्य धाराएँ हैं- ज्ञानमार्गी वेदान्त एवं भक्तिमार्गी वेदान्त। अद्वैतवेदान्त ज्ञानमार्ग का प्रतिनिधित्व करता है तथा भक्तिवेदान्त में विशिष्टाद्वैत, द्वैत, द्वैताद्वैत, शुद्धाद्वैत तथा अचिन्त्यभेदाभेद को मुख्य माना जाता है। विशिष्टाद्वैत, द्वैत, द्वैताद्वैत, शुद्धाद्वैत तथा अचिन्त्यभेदाभेद को वैष्णव वेदान्त के नाम से भी जाना जाता है क्योंकि इन सभी सम्प्रदायों में परम तत्त्व के रूप में विष्णु या उनके किसी अवतार को मान्य किया गया है। विशिष्टाद्वैत वेदान्त में आराध्य के रूप से श्रीनिवास (विष्णु) की उपासना की जाती है। आचार्य रामानुज ने श्रीभाष्य में श्रीनिवास संज्ञक विष्णु की भक्ति को अपना अभीष्ट बतलाया है-

अखिलभुवनजन्मस्थेमभंगादिलीले विनतविविधभूतव्रातरक्षैकदीक्षे।
श्रुतिशिरसि विदीप्ते ब्रह्मणि श्रीनिवासे भवतु मम परस्मिन् शेमुषी भक्तिरूपा॥

शुद्धाद्वैत वेदान्त में श्रीकृष्ण को परम तत्त्व स्वीकार किया गया है। वल्लभाचार्य ने तत्त्वार्थदीपनिबन्ध नामक अपने ग्रन्थ में श्रीकृष्ण की स्तुति की है –

कल्याणं वो विधत्तां विबुधजनलसन्मौलिमाणिक्यमुक्ता-
गारुत्मत्पद्मरागस्फुरितपदनखच्छोभमानाच्छकान्तिः।
राधारागारुणाढ्यस्फुरधररसास्वादलोलाक्षिपक्ष्म-
च्छायामायाविलीनद्युतिनिकरजनान्मोहयन् राधिकेशः॥

इन सभी वैष्णव वेदान्त सम्प्रदायों में विशिष्टाद्वैत वेदान्त अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। जीव, प्रकृति एवं ईश्वर इन तीन तत्त्वों को स्वीकार करते हुए ईश्वर के प्रति अनन्य भक्ति द्वारा मुक्ति की प्राप्ति का ख्यापन इस दर्शन में विशिष्टता से किया गया है।

7.2 विशिष्टाद्वैत वेदान्त

कोई भी प्राणी जब इस संसार में उत्पन्न होता है तभी से वह व्यवहार करना आरम्भ कर देता है और शरीर के नष्ट होने तक यह व्यवहार चलता रहता है। प्रत्येक व्यवहार में क्रिया की प्रधानता होती है और यह व्यवहार प्राणी शरीर एवं उनमें विद्यमान इन्द्रियों के माध्यम से करता है।प्राणियों के शरीर में विद्यमान ज्ञानेन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रियों के द्वारा विषयों से सन्निकर्ष करता है जिससे उसे विषयों का अनुभव प्राप्त होता है। इस समस्त व्यवहार में द्वैतभाव विद्यमान है। शरीर, इन्द्रियाँ, विषय आदि भेद ही द्वैत भाव को उपपन्न करते हैं। संसार में विद्यमान वस्तुएं भेद का प्रतिनिधित्व करती हैं। सांसारिक वस्तुओं में तीन प्रकार का भेद दिखलाई पड़ता है। एक जाति वाले पदार्थों के मध्य विद्यमान भेद को 'सजातीय भेद' कहते हैं, जैसे- एक मनुष्य शरीर का दूसरे मनुष्य शरीर से भेद। दो अलग-अलग जातियों के पदार्थों के बीच मौजूद भेद को 'विजातीय भेद' कहा जाता है, जैसे- मनुष्य का पशु से भेद। एक ही सत्ता में उपलब्ध होने वाला भेद 'स्वगत भेद' कहलाता है, यथा- शरीर में स्थित हाथ, पैर, नाक, कान आदि अंगों में उपलब्ध होने वाला भेद। इस सृष्टि में हमें सर्वत्र नानात्व दिखलाई पड़ता है और यह द्वैत प्रतीति या भेद का अनुभव सहज है।

जिज्ञासा एवं तर्क मनुष्य की सहज प्रवृत्तियां हैं। जब हम इस संसार में विद्यमान भेद की प्रतीतियों के विषय में जिज्ञासा करते हैं और उस जिज्ञासा का तर्क के माध्यम से पल्लवन करते हैं तो हमें यह ज्ञात होता है कि इस नानात्व के मूल में एकत्व विद्यमान है। एक ही मूल तत्त्व स्वयं को कार्य रूप से अभिव्यक्त करके अनेकत्व या भेद या द्वैत की प्रतीति को व्यक्त कर देता है। उदाहरण के रूप जब हम कुम्भकार के यहाँ घट लाने के लिए जाते हैं तो वहाँ हमें अनेक आकृतियों, आकारों एवं वर्णों के घट दिखलाई पड़ते हैं। हमारी सहज बुद्धि यह कहती है कि प्रत्येक घट दूसरे घट से भिन्न है क्योंकि उनकी आकृति भिन्न है, उनके वर्ण भिन्न हैं या उनके प्रयोजन परस्पर भिन्न हैं। किन्तु यदि हम उन सभी घटों के मूल तत्त्व पर चिन्तन करेंगे तो हमें पता चलेगा कि उन सभी का मूल तत्त्व मृदा ही है। मृदा की दृष्टि से उन सभी घटों में एकत्व विद्यमान है। जैसा कि ईशावास्योपनिषद् श्रुति का वचन है-

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ॥

छान्दोग्योपनिषद् श्रुति का भी कथन है कि विकार या भेद वाणी के आरम्भण मात्र हैं –**'यथा सोम्य एकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मन्मयं विज्ञातं स्यात् । वाचारम्भणं विकारोनामधेयंमृत्तिकेत्येव सत्यम् ॥'** (छान्दोग्योपनिषत् ६-१-४)।

द्वैत एवं अद्वैत के इन दो विरोधों का समन्वय ही विशिष्टाद्वैत है। इस दर्शन के अनुसार केवल द्वैत एवं केवल अद्वैत दोनों ही कल्पना मात्र हैं क्योंकि किसी भी भेद को अभेद के बिना तथा अभेद को भेद के बिना स्वीकार नहीं किया जा सकता है। लोक में हम अनुभव करते हैं कि जहाँ भेद होता है वहाँ उस भेद के मूल में अभेद अवश्य होता है इसी तरह जहाँ अभेद की अनुभूति होती है वह भेद की अपेक्षा से ही होती है। विशिष्टाद्वैत शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है-

'द्विता पदार्थद्वयगतो भेदः। द्वितैव द्वैतम्। न द्वैतम् इति अद्वैतम्। विशिष्टयोः विशिष्टस्य वा अद्वैतम् विशिष्टाद्वैतम्'।

अर्थात् दो या अधिक पदार्थों के मध्य विद्यमान भेद को द्वैत कहते हैं। जहाँ द्वैत अविद्यमान है अर्थात् उसका निषेध है, वह अद्वैत कहलाता है। वह अद्वैत जो द्वैत से विशिष्ट होता है, उसे ही 'विशिष्टाद्वैत' कहा जाता है। विशिष्ट पद का अर्थ है – विशेषण एवं विशेष्य भाव से युक्त। जिस अनुभूति में विशेषण एवं विशेष्य संयुक्त होते हैं, उसे विशिष्ट अनुभव कहते हैं। जैसे – 'नीलः घटः' यह एक विशिष्ट अनुभव है। इस अनुभव में नील विशेषण है क्योंकि वह अन्य वर्णों का व्यावर्तन कर रहा है; एवं घट विशेष्य है क्योंकि उसकी विशेषता बतलाई जा रही है। इसी प्रकार द्वैत एवं अद्वैत से संयुक्त विशिष्टाद्वैत में भी विशिष्टता विद्यमान है। द्वैत विशिष्ट अद्वैत को ही 'विशिष्टाद्वैत' कहते हैं। विशिष्टाद्वैत में द्वैत विशेषण होता है तथा अद्वैत विशेष्य होता है।

एक और प्रकार से विशिष्टाद्वैत पद की व्याख्या की जाती है। विशिष्टाद्वैत मत में तीन सत्ताएं स्वीकृत हैं- चित्, अचित् तथा ब्रह्म। चित् एवं अचित् विशेषण हैं तथा ब्रह्म विशेष्य है, अतः ब्रह्म चिदचिद्विशिष्ट है, यही उनका विशिष्टाद्वैत है। आचार्य रामानुज ने वेदान्तसार में कहा है- **'वस्त्वन्तरविशिष्टस्यैव अद्वितीयस्त्वं श्रुत्यभिप्रायः। सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टस्य ब्रह्मणः तदानीं सिद्धत्वात् विशिष्टस्यैव अद्वितीयत्वम् सिद्धमिति'**।चित् एवं अचित् दोनों ईश्वर के शरीर हैं और ईश्वर उनके भीतर निवास करने वाला उनका अन्तर्यामी आत्मा है। बृहदारण्यक उपनिषद् का वचन है –**'यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरं यः सर्वाणि भूतानि अन्तरो यमयति एष ते आत्मा अन्तर्यामी अमृतः'** (बृह.उप. ३.७.१५)। इसी उपनिषद् में एक अन्य स्थल पर भी कहा गया है – **'चिदचितौ सत्यौ तयोः सत्यं परमात्मा तस्योपनिषत् सत्यस्य सत्यम्'** (बृह.उप. २.९.२०) अर्थात् चित् एवं अचित् दोनों सत्य हैं और परमात्मा उस सत्य का भी सत्य है।

जैसा कि हम जानते हैं कि विशेषण एवं विशेष्य में विशेष्य की प्रधानता होती है तथा विशेषण गौड़ होता है; इसीलिए विशिष्टाद्वैत में भी अद्वैत ही मुख्य या प्रधान है, द्वैत गौड़ या अप्रधान है। विशिष्टाद्वैत का अर्थ 'द्वैतविशिष्ट एकत्व' है। विशिष्टाद्वैत में द्वैत एवं अद्वैत दोनों ही सत्य हैं किन्तु वे दोनों परस्पर समान स्तर के नहीं हैं। विशिष्टाद्वैत में अद्वैत अंगी होता है तथा द्वैत उसका अंग होता है। द्वैत एवं अद्वैत के मध्य 'अपृथकसिद्धि' नामक सम्बन्ध है अर्थात् वे एक

दूसरे से पृथक् नहीं होते हैं। इसे दो उदाहरणों से समझा जा सकता है। प्रथम है- आत्मा एवं शरीर के मध्य का सम्बन्ध। शरीर आत्मविशिष्ट है अर्थात् शरीर विशेषण है एवं आत्मा उसका विशेष्य है एवं दोनों में अपृथक्भाव है। द्वितीय उदाहरण है- द्रव्य एवं गुण के मध्य का सम्बन्ध। प्रत्येक गुण हमेशा किसी न किसी द्रव्य के आश्रित होता है। गुणों को द्रव्य से पृथक् नहीं किया जा सकता है। इन दोनों ही उदाहरणों की भांति द्वैत एवं अद्वैत भी परस्पर पृथक् होते हुए भी एक दूसरे से अपृथक् रूप से जुड़े होते हैं एवं यही विशिष्टाद्वैत है।

7.2 विशिष्टाद्वैत वेदान्त का इतिहास

सातवीं से नवीं शताब्दी के मध्य दक्षिण भारत में कुछ ऐसे वैष्णव सन्त हुए जिन्होंने अपनी भक्तिपूर्ण सुमधुर रचनाओं के द्वारा जनमानस को मुग्ध कर दिया। इन भक्त कवियों को आलवार संज्ञा से विभूषित किया जाता है। आलवार सन्त भक्ति परम्परा के उद्वाहक हैं क्योंकि उन्होंने ही दक्षिण भारत में अपनी भक्तिपूर्ण रचनाओं से भक्ति आन्दोलन का सूत्रपात किया है। आलवारों में बारह प्रमुख सन्त परिगणित किये जाते हैं। 'आलवार' का शाब्दिक अर्थ है – भगवच्चिन्तन में निरन्तर निमग्न रहने वाला। इन सभी भगवद्भक्तों में वर्ण, जाति और लिङ्ग आदि का कोई भेदभाव नहीं है। आलवारों द्वारा तमिल भाषा में रचित चार हजार पद्यों का संग्रह 'नालायिरदिव्यप्रबन्धम्' कहलाता है जो 'तमिलवेद' के नाम से भी प्रचलित है। आलवारों में पराङ्गमुनि सुप्रसिद्ध हैं तथा इनका शिष्य मधुर कवि आलवार है।

आलवार सन्तों के बाद 10वीं शताब्दी में तमिल प्रदेश में कुछ संस्कृत विद्वानों ने आलवारों के भक्ति के साथ वैदिक ज्ञान और कर्म के साथ समन्वय स्थापित किया। इन विद्वानों को के नाम से प्रसिद्ध हुए। इन्होंने भक्ति के मार्ग को 'उभय वेदान्ती' कहा गया जो 'आचार्य'ही परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त करने का सर्वोत्तम साधन माना तथा भक्ति वेदान्ती कहलाये। इसके बाद यह परम्परा उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त होती गई तथा अनेक भक्ति वेदान्त सम्प्रदाय हुए, जिन्होंने भक्ति को ही मोक्ष का एकमात्र साधन माना।इन सम्प्रदायों में विशिष्टाद्वैत सर्वाधिक प्रसिद्ध है।

विशिष्टाद्वैत वेदान्त वैष्णव मत का पोषक है। इस मत में रामायण, महाभारत, विष्णु पुराण, भागवत पुराण के साथ-साथ पाञ्चरात्र आगम ग्रन्थों को भी प्रमाणरूप से स्वीकार किया जाता है।पाञ्चरात्र आगमों के अनुसार वे परमब्रह्म वासुदेव के मुख से निःसृत हैं और उनका आधार शुक्लयजुर्वेद की एकायन शाखा है। एकायन शाखा का उल्लेख छान्दोग्योपनिषद् तथा शतपथ ब्राह्मण में प्राप्त होता है। श्रीप्रश्नसंहिता में पाञ्चरात्र को मोक्ष देने वाला कहा गया है-

वेदमेकायनं नाम वेदानां शिरसि स्थितम्।
तदर्थकं पाञ्चरात्रं मोक्षदं तत्क्रियावताम्॥

नारदीय संहिता में पाञ्चरात्र की गणना महातन्त्र के रूप में की गई है। विष्णुसंहिता में पाञ्चरात्र की वेदमूलकता प्रतिपादित है। पौष्करसंहिता, सात्वतसंहिता, जयाख्यसंहिता, अहिर्बुधन्यसंहिता, परमसंहिता आदि पाञ्चरात्र आगम के प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं।पाञ्चरात्र आगमों में प्रपत्ति का सुन्दर वर्णन उपलब्ध होता है। इन आगमों के अनुसार भगवान् के भक्त को अपने समय को पांच भागों में बांटकर भक्ति करनी चाहिए। भगवद्भक्ति के पांच काल हैं- अभिगमन, उपादान, इज्या, स्वाध्याय एवं योग। अभिगमन का आशय श्रद्धा एवं भक्ति से युक्त होकर भगवान् के मन्दिर की ओर प्रस्थान करना है। भगवान् की पूजा के लिए सामग्री का ग्रहण

करना उपादान कहलाता है। इज्या का अर्थ भगवान् की पूजा है। आगमग्रन्थों एवं ईश्वर के मन्त्रों का जप करना स्वाध्याय कहलाता है। अष्टांगयोग का अनुष्ठान करना योग है। प्रपत्ति मार्ग तथा नवधा भक्ति में भगवान् के तीन प्रसिद्ध मन्त्रों का जाप किया जाता है-

i. मन्त्रराज – ॐ नमो नारायणाय

ii. मन्त्रद्वय – श्रीमन्नारायणचरणौ प्रपद्ये, श्रीमते नारायणाय नमः

iii. चरमश्लोक- सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

अहं त्वां सर्वपापेभ्यो: मोक्षयिष्यामि मा शुच: ॥

भागवत पुराण में कहा गया है कि जिस प्रकार किसी पक्षी के नवजात बच्चे जिनके पंख भी अभी तक नहीं निकले हैं, वे जिस व्यग्रता के साथ अपनी माता की प्रतीक्षा करते हैं; पशुओं के शिशु जो सायंकाल वापस आने वाले अपने परिजनों की व्याकुलता से प्रतीक्षा करते हैं तथा प्रेमी एवं प्रेमिका जिस उत्कटता से एक दूसरे में अनुरक्ति रखते हैं; भगवान् के प्रति जब एक भक्त की भक्ति इस स्तर पर पहुँच जाय तो उसे ही भक्ति की चरमसीमा प्रपत्ति कहा जाता है-

अजातपक्षा इव मातरं खगा: स्तन्यं यथा वत्सतरा: क्षुधार्ता: ।
प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णामनोऽरविन्दाक्ष!दिदृक्षते त्वाम् ॥(भागवत, 6.11.26)

प्रमुख आचार्य एवं ग्रन्थ

विशिष्टाद्वैत वेदान्त की परम्परा में नारायण को आदि उपदेष्टा स्वीकार किया जाता है। इसके पश्चात् लक्ष्मी, विष्वक्सेन, शठकोप तथा बोपदेव को इस परम्परा का मान्य उपदेशक माना जाता है। ऐतिहासिक रूप से आचार्य नाथमुनि विशिष्टाद्वैत मत के प्रथम मान्य आचार्य हैं।

आचार्य नाथमुनि

विशिष्टाद्वैत दर्शन के आद्य आचार्य नाथमुनि हैं। उनका समय 9वीं –10वीं शताब्दी के मध्य है।ये मधुर कवि आलवार और पराङ्कुश आलवार के प्रशिष्य हैं। विशिष्टाद्वैत का प्रथम ग्रन्थ 'न्यायतत्व या नयतत्त्व' नाथमुनि की ही कृति है।

यामुनाचार्य

विशिष्टाद्वैत परम्परा के द्वितीय महान् आचार्य यामुन हैं, जो **'आलवन्दार'** नाम से प्रसिद्ध हैं तथा नाथमुनि के पौत्र हैं। उनका समय 10वीं –11वीं शताब्दीके मध्य है। ये अपने शिष्यों को वैष्णव सम्प्रदाय के पाँचों संस्कारों की दीक्षा देते थे। यामुन को नाम्मालवार के ग्रन्थों से बहुत प्रेम था जिनके सिद्धान्त उन्होंने लोगों को समझाए। इन्होंने छ: ग्रन्थ रचे थे – (1) स्तोत्र रत्नम् (2) चतुश्श्लोकी (3) आगम प्रामाण्य (4) सिद्धित्रय (5) गीतार्थ संग्रह (6) महापुरुषनिर्णय। इनमें से **'सिद्धित्रय'** बहुत महत्वपूर्ण है।

रामानुजाचार्य

आचार्य रामानुज विशिष्टाद्वैत दर्शन के प्रतिष्ठापक आचार्य हैं।आचार्य शंकर के अद्वैत परक व्याख्या **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** के प्रतिपाद के रूप में रामानुज ने विशिष्टाद्वैत का प्रतिपादन किया। द्वैत तथा अद्वैत दोनों सदा साथ रहतें हैं और इनमें पार्थक्य सम्भव नहीं है। द्वैत विशेषण

है; अद्वैत विशेष्य है; और विशेषणयुक्त विशेष्य को विशिष्ट कहते हैं, अत: उनका मत विशिष्टाद्वैत कहलाता है। रामानुज जीव और जगत् को स्वतन्त्र पदार्थ स्वीकार करते हैं तथा चित् (जीव), अचित् (जगत्) और ईश्वर, इन तीनों को तत्त्वत्रय मानते हैं। रामानुज ने ब्रह्मसूत्र पर श्रीभाष्य नाम से प्रसिद्ध भाष्य ग्रन्थ की रचना की है।

पराशर भट्टार्य

रामानुज के उत्तराधिकारी पराशर भट्टार्य थे जो कुरेश के पुत्र थे। इन्होंने 'सहस्र गीति' पर टीका लिखी। उनका समय 11वीं शताब्दी का उत्तरार्ध है।

नम्बूरि वरदार्य (लोकाचार्य)

माधवदास के उत्तराधिकारी नम्बूरि वरदार्य या लोकाचार्य हुए। इनके तीन ग्रन्थ प्राप्त होते हैं – **'तत्त्वत्रय'**,**'तत्त्वशेखर'** तथा **'श्रीभूषण'**।

सुदर्शन सूरि

रामानुजाचार्य के अनुयायियों में सुदर्शन सूरि हैं, जिन्होंने श्रीभाष्य पर श्रुतप्रकाशिका टीका लिखी है, जिससे परवर्ती अनुगामिनों ने प्रेरणा ली। उनका समय 13वीं –14वीं शताब्दी के मध्य है। उन्होंने रामानुज के वेदार्थ संग्रह की टीका **'वेदान्त संग्रह तात्पर्य दीपिका'**, '**सन्ध्यावन्दन भाष्य**' लिखी तथा एक अन्य ग्रन्थ **'श्रुतप्रकाशिका'** लिखा।

वेंकटनाथ (वेदान्तदेशिक)

रामानुज सम्प्रदाय के महान् दार्शनिक वेंकटनाथ ने श्रीभाष्य पर **'तत्त्वटीका'** नामक व्याख्या लिखी, तथा **'न्याय-परिशुद्धि'** के परिशिष्ट में**'न्यायसिद्धाञ्जन'**लिखा जिसकी विषयवस्तु वेंकटनाथ सम्बन्धी पृथक् खण्ड में दी गई है। इन्होंने **'शतदूषणी'** नामक कृति में अद्वैत वेदान्त में 66 दूषण बताये हैं। इनके अतिरिक्त इन्होंने अनेक टीका, ग्रन्थ, निबन्ध आदि लिखे हैं।

मेघनादारि

आचार्य मेघनादारि सम्भवत: 12वीं या 13वीं शताब्दी के पूर्व काल में विद्यमान थे। उनका सम्पर्क अपने ज्येष्ठ भ्राता राममिश्र से निकट रहा जो रामानुज के शिष्य थे। उन्होंने श्रीभाष्य पर **'न्याय प्रकाशिका'** नाम की टीका लिखी तथा '**मुमुक्षुपाय संग्रह**', **'भव प्रबोध'** और **'नयद्युमणि'** ग्रन्थ भी लिखे।

रंग रामानुज मुनि

ये वात्स्य अनंतार्य, ताताचार्य और परकाल यति अथवा कुम्भकोन ताताचार्य के शिष्य थे। उनका समय 15वीं शताब्दी के मध्य है। उन्होंने श्रीभाष्य पर '**मूल भाव प्रकाशिका**' नामक टीका लिखी और न्याय सिद्धाञ्जन पर **'न्याय सिद्धाञ्जय व्याख्या'** नामक टीका लिखी।

इस सम्प्रदाय में और भी अनेक आचार्य हुए जिन्होंने इस सम्प्रदाय को आगे बढ़ाया है।

7.2.3 तत्त्वमीमांसा

विशिष्टाद्वैतवेदान्त में 'तत्त्वत्रय' के सिद्धान्त को स्वीकार किया जाता है। इसके अनुसार तत्त्व तीन हैं- चित्, अचित् एवं ईश्वर। लोकाचार्य स्वकीय ग्रन्थ तत्त्वत्रय में कहते हैं- **'तत्त्वत्रयं नाम चिदचिदीश्वरश्च'** (तत्त्वत्रय, १.२)। 'चित्' चेतन जीवात्मा का वाचक है तथा 'अचित्' से अचेतन प्रकृति का ग्रहण किया जाता है। तृतीय तत्त्व को 'ईश्वर' की संज्ञा से विभूषित किया जाता है। यदि कोई मनुष्य जीवन में व्याप्त दुःखों से निवृत्त होना चाहता है तो उसे इन तीन तत्त्वों का ज्ञान करना अनिवार्य है। जब मुमुक्षु विशिष्टाद्वैत शास्त्र में बतलाई गई प्रक्रिया के अनुसार तत्त्वत्रय का ज्ञान कर लेता है तो उसे मोक्ष की अवाप्ति हो जाती है, जैसा कि आचार्य का वचन है- 'मुमुक्षोश्चेतनस्य मोक्षसिद्धये तत्त्वत्रयज्ञानमावश्यकम्' (तत्त्वत्रय, 1.1)।

7.2.3.1 चित् (आत्मा)

विशिष्टाद्वैत दर्शन में चेतन सत्ता को ही चित् तत्त्व या जीवात्मा के नाम से जाना जाता है। आचार्य रामानुज ने 'आत्मसिद्धि' नामक ग्रन्थ में आत्मा के स्वरूप का निरूपण इस प्रकार से किया है –

देहेन्द्रियमनः प्राण धीभ्योऽन्योऽनन्यलक्षणः।
नित्यो व्यापी प्रतिक्षेत्रमात्मा भिन्नः स्वतः सुखी॥

अर्थात् आत्मा शरीर, इन्द्रिय, मन, प्राण तथा बुद्धि इन पांचों से भिन्न है। आत्मा स्वयंप्रकाश है अर्थात् उसे प्रकाशित होने के लिए किसी अन्य प्रकाश की आवश्यकता नहीं होती है। यह आत्मतत्त्व नित्य है, व्यापक है तथा प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न है। प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न होने के कारण आत्मा अनन्त है। आत्मा आनन्दस्वरूप भी है। जिस प्रकार उष्णता अग्नि का स्वभाव होती है उसी प्रकार आनन्द आत्मा का स्वभाव धर्म है।

इस मत में आत्मा को अजड़, अव्यक्त, अचिन्त्य, निरवयव, निर्विकार तथा ज्ञानाश्रय भी स्वीकार किया जाता है। आत्मा को अजड़ कहने का तात्पर्य यह है कि आत्मा स्वप्रकाश है। लोकव्यवहार में हम यह देखते हैं कि घट, पट, पुस्तक आदि लौकिक वस्तुओं की प्रतीति के लिए दीपक, सूर्य आदि प्रकाश स्रोतों की आवश्यकता होती है, ये सभी वस्तुएं किसी अन्य प्रकाश के अभाव में ज्ञात नहीं की जा सकती हैं; किन्तु आत्मा इनसे विलक्षण है। आत्मा को अपने प्रकाश हेतु किसी अन्य प्रकाश की आवश्यकता नहीं है अपितु वह स्वयंप्रकाश है। प्रत्येक चेतन प्राणी को अपने अस्तित्व की 'अहं अस्मि' इस रूप में सतत अनुभूति होती रहती है, यही आत्मा का स्वप्रकाशत्व है। श्रुतियों में भी आत्मा की स्वप्रकाशकता का ख्यापन किया गया है जैसा कि बृहदारण्यक श्रुति का वचन है-'हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः' (बृह.उप., ६.३.७) अर्थात् हृदय के अन्तर में विद्यमान आत्मा ज्योतिस्वरूप है'।

आत्मा आनन्दस्वरूप भी है। यद्यपि अविद्या तथा कर्मों से अनादि सम्बन्धों के कारण जीव विभिन्न योनियों में संसरण करते हुए दुःख आदि का भोग करता है किन्तु अपने विशुद्ध स्वरूप में आत्मा सुखरूप है। आत्मा नित्य है अर्थात् उसका कभी भी नाश नहीं होता है। 'न जायते म्रियते वा विपश्चित्', 'अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणः' (कठोपनिषद्, २.१.८) इत्यादि श्रुतियाँ आत्मा की नित्यता का प्रतिपादन करती हैं। आत्मा के परिमाण के विषय में विशिष्टाद्वैत की मान्यता है कि आत्मा का परिमाण अणु है। उनका कथन है कि जब प्राणी की मृत्यु होती है तो आत्मा शरीर से उत्क्रमण करके स्वर्गादि लोकों में गमन करती है तथा कर्मों के फलों का

उपभोग कर लेने के बाद वापस इस लोक में आती है। यदि उसे विभु परिमाण का मान लिया जाय तो सर्वत्र व्यापक होने के कारण उसका गमनागमन सम्भव नहीं है, इसलिए उसे अणु मानना ही तर्कसंगत है। श्रुति भी आत्मा को अणु परिमाण प्रतिपादित करती है – 'एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्य:' (मुण्डक.उप., ३.१.९)।

आत्मा अव्यक्त है अर्थात् चक्षु, श्रोत आदि इन्द्रियों से उसकी उपलब्धि नहीं होती है। आत्मा निरवयव है। जिस प्रकार हस्त, पाद आदि शरीर के अवयव हैं, आत्मा का इस प्रकार से कोई अवयव नहीं है। अवयवरहित होने के ही कारण ही आत्मा निर्विकार भी है। विशिष्टाद्वैत मतानुसार आत्मा ज्ञान का आश्रय भी है। ज्ञान आत्मा का सर्वप्रमुख गुण है। प्रश्नोपनिषद् में आत्मा को ज्ञानाश्रय कहा गया है –'एष हि द्रष्टा, श्रोता, घ्राता, रसयिता, मन्ता, बोद्धा, कर्ता, विज्ञानात्मा पुरुष:'(प्रश्न. उप., ४.९) अर्थात् यह आत्मा ही देखने वाला, सुनने वाला, सूंघने वाला, रस लेने वाला, मनन करने वाला, जानने वाला, कर्ता तथा विज्ञानस्वरूप है। आत्मा में ज्ञातृत्व के अतिरिक्त कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व भी है। आत्मा, ईश्वर के द्वारा नियम्य तथा धार्य है अर्थात् परमात्मा उसका नियमन करता है तथा उसे धारण भी करता है। आत्मा ईश्वर पर आश्रित है तथा उससे अपृथक् है। विशिष्टाद्वैत मत में चित् या आत्मा या जीव त्रिविध है-

i. **नित्यमुक्त:** वे जीव जिनका कभी भी बन्धन तथा संसरण नहीं होता है, वे नित्यमुक्त कहलाते हैं। यथा- शेष, गरुड़ तथा विष्वकसेन आदि।

ii. **मुक्त:** वे जीव जो ईश्वर की भक्ति करके बन्धनों से मुक्त हो चुके हैं, उन्हें मुक्त जीव कहते हैं।

iii. **बद्ध:** जो जीव अविद्या और कर्म सम्बन्ध के कारण संसरण के चक्र में भ्रमण कर रहे हैं, वे बद्ध जीव कहलाते हैं।

7.2.3.2 अचित्

विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के अनुसार सृष्टि में विद्यमान अचेतन तथा जड़ पदार्थ को ही 'अचित्' कहा जाता है। इसका स्वरूप यह है कि अचित् तत्त्व ज्ञानशून्य तथा विकारास्पद द्रव्य होता है। श्रुतियों में उसे 'क्षर' संज्ञा से भी अभिहित किया जाता है। अचित् तत्त्व तीन प्रकार का है-

i. **शुद्धसत्त्व:**रजोगुण तथा तमोगुण के मिश्रण से रहित केवल सत्त्वगुण स्वरूप को शुद्धसत्त्व कहा जाता है। शुद्धसत्त्व प्रकृतिरहित, दिव्य तथा नित्य होता है। शुद्धसत्त्व होने के कारण उससे ज्ञान तथा आनन्द की उत्पत्ति होती है। लोकाचार्य के अनुसार शुद्धसत्त्व कर्म के परतन्त्र न होकर केवल परमात्मा की इच्छा से विमान, गोपुर, मण्डप तथा प्रासाद आदि के रूप में परिणत होता है। ईश्वर का विग्रह, नित्य तथा मुक्त पुरुषों के शरीर तथा वैकुण्ठलोक इसी शुद्धसत्त्व से निर्मित होते हैं। ईश्वर के विभिन्न अवतार भी इसी से बनते हैं। जब आत्मा मुक्ति प्राप्ति के पश्चात् इस शरीर का त्याग करके भगवान् के लोक में गमन करती है तो वहाँ भी उसे एक शरीर प्राप्त होता है। मुक्त आत्मा का यह शरीर भी शुद्धसत्त्व से निर्मित होता है।

ii. **मिश्रसत्त्व:** इसमें सत्त्वगुण, रजोगुण तथा तमोगुण इन तीनों का मिश्रण होता है। इन तीनों गुणों से युक्त होने के कारण इसे त्रिगुण भी कहा जाता है। यह जगत का उपादानकारण है। इसे नित्य माना जाता है तथा नित्य होने के कारण यह अनादि एवं

अनन्त है। प्रलय काल में मिश्रसत्त्व साम्यावस्था में विद्यमान होने के कारण सदृश परिणाम को उत्पन्न करता रहता है किन्तु जब सृष्टि होती है तो ईश्वर के संकल्प से इन गुणों में वैषम्य उत्पन्न हो जाता है और उससे महद आदि तत्त्वों की उत्पत्ति होती है। इसे ही प्रकृति, माया या लीलाविभूति भी कहते हैं। यह प्रकृति ही बद्ध जीवों के ज्ञान तथा आनन्द को तिरोहित कर देती है।

iii. **सत्त्वशून्यः** काल एकमात्र सत्त्वशून्य द्रव्य है।यही समस्त प्रकृति तथा प्रकृति से उत्पन्न होने वाले पदार्थों के परिणाम का कारण है क्योंकि जितनी भी उत्पत्ति होती है वह किसी न किसी कालविशेष में ही होती है। यह काल कला, काष्ठा, क्षण, मुहूर्त, दिन, मास, वर्ष आदि समय गणना की इकाईयों में बदलता रहता है।

7.2.3.3 ईश्वर

विशिष्टाद्वैतदर्शन में परमसत्ता को ईश्वर या ब्रह्म कहा जाता है। ईश्वर तथा ब्रह्म एक ही हैं अर्थात् उनमें कोई तात्त्विक भेद नहीं है। यह दर्शन ईश्वर के सगुण रूप को स्वीकार करता है। ईश्वर ही इस सम्पूर्ण चराचर जगत का अभिन्ननिमित्तोपादानकारण है तथा चित् एवं अचित् का नियन्ता भी है। लोकाचार्य ने तत्त्वत्रय में ईश्वर के स्वरूप का वर्णन इस प्रकार से किया है –

'ईश्वरः अखिलहेयप्रत्यनीकानन्तज्ञानानन्दैकस्वरूपः, ज्ञानशक्त्यादि कल्याणगुणगणविभूषितः, सकलजगत्सर्गस्थितिसंहारकर्त्ता, 'आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी' त्युक्त चतुर्विध पुरूषाणामप्याश्रयणीयः धर्मार्थकाममोक्षरूप चतुर्विधफलप्रदः, विलक्षणविग्रहयुक्तः लक्ष्मी भूमि-नीला नायकश्च'' (तत्त्वत्रय, ३.९) अर्थात् ईश्वर समस्त हेय गुणों से रहित है। प्राणियों में पाए जाने वाले राग, द्वेष, काम, क्रोध आदि गुण ही हेय या त्याज्य गुण होते हैं। ईश्वर इन गुणों से सर्वथा रहित है। ईश्वर आनन्दस्वरूप है जिसमें **'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'** यह श्रुति वाक्य प्रमाण है। ईश्वर ज्ञानस्वरूप तथा सर्वशक्तिमान है। ईश्वर को संसार की समस्त वस्तुओं का स्वरूप ज्ञान है तथा वे उन सभी वस्तुओं के विशेष ज्ञान को भी वे धारित करते हैं, अतः श्रुतियाँ उन्हें सर्वज्ञ तथा सर्ववित् कहतीं हैं। दया, करुणा, ऋजुता आदि असंख्य कल्याणकारी गुण ईश्वर में विद्यमान हैं इसलिए उन्हें कल्याणगुणों का सागर कहा गया है।

ईश्वर ही इस समस्त सृष्टि के कारण हैं अर्थात् यह सृष्टि उन्हीं से उत्पन्न होती है, उन्हीं में स्थित रहती है तथा प्रलयकाल में उन्हीं में लीन हो जाती है। तैत्तिरीय श्रुति में कहा गया है – 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद् ब्रह्म' अर्थात् ये समस्त प्राणी जिनसे उत्पन्न होते हैं, जिनके आश्रय में जीवित रहते हैं तथा प्रलय के समय जिनमें विलीन हो जाते हैं, वही ब्रह्म है। आचार्य रामानुज ने भी श्रीभाष्य में ईश्वर के इसी स्वरूप को मंगलाचरण में प्रस्तुत किया है-

अखिलभुवनजन्मस्थेमभंगादिलीले विनतविविधभूतव्रातरक्षैकदीक्षे।
श्रुतिशिरसि विदीप्ते ब्रह्मणि श्रीनिवासे भवतु मम परस्मिन् शेमुषी भक्तिरूपा॥

सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति, स्थिति एवं प्रलय जिनकी लीलामात्र है, जो श्रद्धावनत विभिन्न प्रकार के प्राणियों की रक्षा के लिए कृतसंकल्प हैं, जिनका विशिष्ट स्वरूप उपनिषदों में प्रतिपादित है ऐसे श्रीनिवास संज्ञक परब्रह्म में बुद्धि भक्तिस्वरूपा हो।

संसार में जितने भी प्रकार के प्राणी हैं उन सभी के लिए ईश्वर ही एकमात्र आश्रयणीय हैं। वे अपने भक्तों को पुरुषार्थ प्रदान करते हैं। उनका शरीर दिव्य है जो कि शुद्धसत्त्व से निर्मित है। यद्यपि वे सम्पूर्ण सृष्टि में व्याप्त हैं किन्तु बैकुण्ठ उनका विशिष्ठ निवासस्थान है। ईश्वर अनन्त है अर्थात् देश, काल एवं वस्तु की परिच्छिन्नताओं से रहित है। आशय यह है कि ब्रह्म तीनों कालों, सभी देशों तथा समस्त वस्तुओं में व्याप्त हैं। उन्हें भगवान् भी कहा जाता है क्योंकि वे छह प्रकार के ऐश्वर्यों से सम्पन्न हैं –

ज्ञानाशक्तिबलैश्वर्यवीर्यतेजांस्यशेषत:।
भगवच्छब्दवाच्यानि विना हेयैर्गुणादिभि: ॥ (विष्णुपुराण, ६.५.६९)

अर्थात् ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य और तेज ये सभी गुण जिनमें सम्पूर्णता से विद्यमान हो वही भगवान् कहलाता है।

परमात्मा के विविध रूप हैं जिनके माध्यम से वे सम्पूर्ण सृष्टि में व्याप्त रहते हैं तथा अपने भक्तों पर अनुग्रह करते हैं। उनके पांच रूप हैं- पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी तथा अर्चावतार। पर रूप से ईश्वर वैकुण्ठ लोक में निवास करते हैं तथा ज्ञान, शक्ति आदि षड्गुणों से परिपूर्ण होकर प्रकाशमान रहते हैं। व्यूहरूप में ईश्वर वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध इन चार व्यूहों के रूप में अभिव्यक्त होते हैं। परमात्मा के राम, कृष्ण आदि अनन्त अवतार ही उनका विभव रूप है। अन्तर्यामी रूप से ईश्वर प्रत्येक प्राणी के हृदय में विद्यमान रहते हैं। अर्चावतार रूप में ईश्वर मंदिरों में मूर्तियों तथा विग्रह रूप में विराजमान हैं।

7.2.4 ज्ञानमीमांसा

विशिष्टाद्वैतवेदान्त में ज्ञानमीमांसा के अन्तर्गत मुख्य रूप से प्रमा तथा प्रमाण के सिद्धान्त की विवेचना की जाती है। 'यथार्थानुभव: प्रमा' इस परिभाषा के अनुसार यथार्थ अनुभव या ज्ञान को प्रमा कहा जाता है। यहाँ यथार्थता से आशय पदार्थ के वास्तविक स्वरूप से है। जो वस्तु जैसी होती है अर्थात् पदार्थ का जो स्वरूप एवं स्वभाव होता है उसको उसी रूप में जानना या अनुभूत करना ही यथार्थ अनुभव कहलाता है। ज्ञान की इसी यथार्थता को प्रमा कहा जाता है। प्रमा त्रिविध है- प्रत्यक्ष, अनुमिति तथा शाब्द। इन्द्रिय तथा अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न होने वाली प्रमा को प्रत्यक्ष प्रमा कहते हैं। प्रत्यक्ष प्रमा दो तरह की होती है – सविकल्पक तथा निर्विकल्पक। नाम, जाति आदि विशेषताओं से युक्त प्रमा को सविकल्पक प्रमा कहते हैं जबकि वह प्रमा जो नाम, जाति आदि विशेषणों से रहित होती है, वह निर्विकल्पक प्रमा कहलाती है। विशिष्टाद्वैत मत में केवल सविकल्पक प्रमा को मान्य किया जाता है। आचार्य रामानुज के अनुसार इस संसार में कोई भी वस्तु निर्विशेष, निर्गुण, निर्धर्मक या निर्विकल्पक नहीं होती है। वस्तु सदैव विशेषण से युक्त होती है, गुणों से युक्त होती है तथा किसी न किसी प्रकार के धर्मों से भी युक्त होती है। अतः हम जब भी किसी वस्तु का ज्ञान करते हैं तो वह सदैव सविकल्पक ही होता है।

विशिष्टाद्वैत मतानुसार कोई भी ज्ञान जब उत्पन्न होता है तो वह अर्थ के अनुरूप होता है तथा ज्ञेय पदार्थ को ज्ञाता के ज्ञान का विषय बनाता है। इस ज्ञान की प्रक्रिया में चूंकि ज्ञाता एवं ज्ञेय के मध्य सम्बन्ध होता है अतः उस सम्बन्ध के कारण ज्ञान, ज्ञाता में रहता है। ज्ञान द्रव्य भी है और धर्म भी है। ज्ञान ईश्वर या जीव पर आश्रित रहता है इसलिए वह धर्म है तथा ज्ञान का संकोच एवं विकास होता है, इसलिए वह द्रव्य भी है। ज्ञान 'अजड़' होता है क्योंकि वह चित्

तत्त्व एवं अचित् तत्त्व दोनों से भिन्न है। ज्ञान चित् से भिन्न है क्योंकि वह स्वचेतन एवं स्वयंवेद्य नहीं है अर्थात् ज्ञान न स्वयं को जान सकता है और न ही अन्य पदार्थों को जान सकता है। ज्ञान अचित् से भी भिन्न है क्योंकि वह स्वयं को और ज्ञेय पदार्थों को प्रकाशित करता है। (भारतीय दर्शन: आलोचन एवं अनुशीलन, चन्द्रधर शर्मा, पृष्ठ 298)।

विशिष्टाद्वैत दर्शन में तीन प्रमाण स्वीकार किये जाते हैं- प्रत्यक्ष, अनुमान एवं शब्द। प्रत्यक्ष एवं अनुमान प्रमाण के सम्बन्ध में अधिकांश मान्यताएं न्याय दर्शन के समान हैं। प्रमा अर्थात् यथार्थ ज्ञान के प्रकृष्ट कारण को ही प्रमाण कहते हैं जैसा कि न्यायदर्शन में कहा गया है- 'प्रमाकरणं प्रमाणम्'। प्रमा या यथार्थ अनुभव तीन प्रकार का है- प्रत्यक्ष, अनुमिति एवं शाब्द। इन तीन प्रकार की प्रमाओं के करण भी तीन हैं- प्रत्यक्ष, अनुमान एवं शब्द।

इन्द्रिय तथा अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न होने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण कहलाता है। पञ्च ज्ञानेन्द्रियों का जब अपने-अपने विषयों से संयोगादि सन्निकर्ष होता है तो प्रत्यक्ष ज्ञान की उपलब्धि होती है। इस ज्ञान की करणभूत इन्द्रियों को ही प्रत्यक्ष प्रमाण कहा जाता है क्योंकि प्रमा के करण को ही प्रमाण कहते हैं। प्रत्यक्ष के दो भेद हैं- निर्विकल्पक एवं सविकल्पक। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के सम्बन्ध में न्याय एवं विशिष्टाद्वैत मत में भिन्नता है। न्याय दर्शन के अनुसार निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में वस्तु के नाम, जाति आदि का बोध नहीं होता है जबकि विशिष्टाद्वैत के अनुसार निर्विकल्पक ज्ञान में भी सविशेष पदार्थ का ही ज्ञान होता है। इस प्रथम ज्ञान में भी नाम, जाति आदि भासित होते हैं किन्तु हमें उनका उस वस्तु के साथ सम्बन्ध ज्ञात नहीं होता है कि यह किस का नाम है या किसकी जाति है। सविकल्पक प्रत्यक्ष में हमें यह ज्ञात हो जाता है।

अनुमिति प्रमा के असाधारण कारण को अनुमान प्रमाण कहते हैं। 'येन हि अनुमीयते तदनुमानम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिससे अनुमिति की जाती है अर्थात् अनुमिति के साधन को अनुमान कहा जाता है। न्याय दर्शन के आचार्य केशव मिश्र के अनुसार 'लिंगपरामर्शोऽनुमानम्' अर्थात् लिंग (हेतु, साधन) के परामर्श ज्ञान को अनुमान कहते हैं। जो व्याप्ति के माध्यम से अर्थ का बोध कराता है, उसे लिंग या हेतु कहते हैं। इसी हेतु का व्याप्तिनिश्चय एवं पक्षधर्मता ज्ञान के पश्चात् जो तृतीय ज्ञान है उसे परामर्श कहते हैं। आशय यह है कि व्याप्ति से विशिष्ट पक्षधर्मता के ज्ञान को परामर्श ज्ञान कहते हैं। इसी परामर्श ज्ञान के उपरान्त अनुमिति कि उत्पत्ति हो जाती है, अतः इसे ही अनुमान कहा जाता है। अनुमान की प्रक्रिया में व्याप्तिज्ञान बहुत आवश्यक है। साहचर्य अर्थात् समानाधिकरण नियम को व्याप्ति कहा जाता है। यथा- रसोईघर में हम देखते हैं कि वहाँ धुँआ है तथा आग है। ये दोनों एक ही अधिकरण रसोईघर में बार-बार साथ-साथ रहते दिखाई देते हैं इसलिए धुँआ तथा आग में साहचर्य का भाव है अर्थात् हम कह सकते हैं कि 'जहाँ जहाँ धुँआ है वहाँ वहाँ आग है' ; इसी को व्याप्ति कहा जाता है। इस व्याप्ति को अवधारित करने वाला व्यक्ति जब किसी ऐसे स्थल (जैसे पर्वत आदि) पर पहुँचता है जहाँ उसे धूम (अर्थात् हेतु) दिखाई पड़ता है तो उसे व्याप्ति का स्मरण हो आता है कि 'जहाँ जहाँ धुँआ है वहाँ वहाँ आग है'। इसके पश्चात् वह विचार करता है कि पर्वत पर धूम है अतः पर्वत पर आग भी है। यही अनुमिति है जिसका ज्ञान व्याप्तिज्ञान से हुआ है, इसलिए व्याप्तिज्ञान ही अनुमिति का करण होने के कारण अनुमान है। अनुमान के दो भेद हैं- स्वार्थानुमान एवं परार्थानुमान। जब कोई व्यक्ति स्वयं व्याप्ति का ज्ञान करके पक्ष में साध्य का ज्ञान करता है तो वह स्वार्थानुमान कहलाता है। जहाँ पर स्वार्थानुमान किया हुआ व्यक्ति किसी दूसरे को उसका ज्ञान कराने के लिए पञ्चावयव वाक्यों का प्रयोग करता है और

उन वाक्यों को सुनकर उसके आधार पर अनुमिति कर लेता है तो इसे ही परार्थानुमान कहते हैं। इस अनुमान के पञ्च अवयव वाक्य हैं- प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन।

शब्द प्रमाण का स्वरूप है – 'आप्तवाक्यं शब्द:' अर्थात् आप्त (विश्वसनीय) व्यक्ति के वाक्य को सुनकर श्रोता को जो वाक्यार्थज्ञान होता है, उसे ही शब्द प्रमाण कहते हैं। आप्तवाक्य दो प्रकार के होते हैं- लौकिक एवं अलौकिक। लोकव्यवहार में किसी आप्त पुरुष के वाक्य से होने वाला यथार्थज्ञान लौकिक शब्दप्रमाण है। वैदिक अर्थात् श्रुति वाक्यों से जन्य यथार्थ ज्ञान वैदिक शब्दप्रमाण है। ईश्वर द्वारा उक्त होने के कारण समस्त वैदिक वाक्य प्रमाण की कोटि में आते हैं। आचार्य रामानुज श्रुतियों के अतिरिक्त पाञ्चरात्र आगमों को भी शब्द प्रमाण मानते हैं।

7.2.5 आचारमीमांसा

आचारमीमांसा के अन्तर्गत मुख्य रूप से बन्धन एवं मोक्ष के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जाता है। भारतीय दर्शन में अविद्या तथा कर्म को बन्धन का सामान्य रूप से कारण स्वीकार किया जाता है। विशिष्टाद्वैत वेदान्त भी इस मान्यता को स्वीकार करते हैं। अनादि अविद्या(अज्ञान) के कारण जीव कर्म करता है। कर्म मुख्यतः दो प्रकार के हैं – करणीय एवं अकरणीय कर्म। जो कर्म शास्त्र एवं लोकसम्मत हैं अर्थात् जिन्हें करने की अनुमति लोक एवं शास्त्र दोनों में है, वे करणीय कर्म कहलाते हैं; यथा- सत्य बोलना, अहिंसा का पालन करना आदि। इन कर्मों के आचरण से पुण्य की प्राप्ति होती है। अकरणीय कर्म वे हैं जो शास्त्र एवं लोक में निषिद्ध हैं अर्थात् जिनके न करने का निर्देश किया गया है; यथा- असत्य भाषण करना, हिंसा करना, चोरी करना आदि। ये कर्म किये जाने पर अपुण्य उत्पन्न करते हैं जिसके फलभोग में जीव को दुःख प्राप्त होता है। इन द्विविध कर्मों के कारण जीव शरीर, अन्तःकरण, प्राण, इन्द्रियदि निकायों से सम्बन्धित हो जाता है और इसे ही जीव का बन्धन कहा जाता है।

बन्धन से निवृत्ति हेतु अविद्या एवं कर्मफलों का क्षय करना आवश्यक है जिसके लिए कर्म, ज्ञान एवं भक्ति तीनों की आवश्यकता पर विशिष्टाद्वैत मत में बल दिया गया है। उनका मानना है कि मोक्ष की साधना में नैतिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक अर्थात् कर्म, ज्ञान एवं भक्ति तीनों का समन्वय होना चाहिए। जब कोई साधक नैतिक कर्मों का आचरण करता है, आत्मज्ञान प्राप्त करता है तथा ईश्वर की अनन्य भक्ति करता है तो कर्मयोग, ज्ञानयोग एवं भक्तियोग के समन्वय से उसे मुक्ति प्राप्त होती है। कर्मयोग के अनुष्ठान से जीव में विद्यमान पापों का प्रक्षालन हो जाता है तत्पश्चात् उसमें ज्ञानयोग उत्पन्न होता है तथा ज्ञानयोग के सम्यक् बोध से साधक में भक्तियोग की निष्पत्ति हो जाती है। इस प्रकार कर्म, ज्ञान एवं भक्ति तीनों मिलकर मोक्षोपाय बनते हैं, यही विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त है।

जब कोई साधक स्व वर्ण एवं आश्रम में विहित कर्मों का अनुष्ठान करता है और उसका यह अनुष्ठान किसी फल की कामना से न होकर केवल ईश्वर की प्रीति के निमित्त होता है तो इसे ही 'कर्मयोग' कहा जाता है। यतीन्द्रमतदीपिका में कर्मयोग के विषय में कहा गया है- **'कर्मयोगो नाम उपदेशाज्जीवपरयाथार्थ्यज्ञानवता, शक्त्यनुसारेण फलसंगरहितानिषिद्धकाम्यनित्यनैमित्तिकरूपपरिगृहीत: कर्मविशेष:'** अर्थात् आचार्य के द्वारा जीवात्मा-परमात्मा के उपदेश को सुनकर जिसे उनका यथार्थ ज्ञान हो गया है, ऐसे साधक के द्वारा फल की कामना से रहित होकर एवं अपनी सामर्थ्य के अनुसार काम्य एवं निषिद्ध कर्मों का परित्याग करते हुए नित्य एवं नैमित्तिक कर्मों का आचरण करना ही **'कर्मयोग'** है। ईश्वर की उपासना, तपस्या, तीर्थयात्रा करना, दान करना आदि कर्मयोग के अन्तर्गत आते हैं।

कर्मयोग का नियमपूर्वक एवं अनवरत अनुष्ठान करते रहने पर साधक का अन्तःकरण राग, द्वेष आदि अशुद्धियों से रहित होकर अत्यन्त निर्मल हो जाता है। ऐसा साधक जब गुरु एवं शास्त्र से आत्मा एवं परमात्मा के स्वरूप के विषय में उपदेश का ग्रहण करता है और उसके पश्चात् इनके स्वरूप एवं जीव के परमात्मा का अंश होने का मनन करता है तो यही **'ज्ञानयोग'** कहलाता है। शास्त्र में कहा गया है –**' ज्ञानयोगो नाम कर्मयोगान्निर्मलान्त:करणस्येश्वरशेषत्वेन प्रकृतिवियुक्तस्वात्मचिन्ताविशेष:'** (यतीन्द्रमतदीपिका, सप्तम अवतार)।

यतीन्द्रमतदीपिका में भक्तियोग का निरूपण इस प्रकार किया गया है –**'भक्तियोगो नाम यम-नियम-आसन-प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणा-ध्यान-समाधिरूपाष्टांगयुक्त: तैलधारावदविच्छिन्नस्मृतिसन्तानरूप:'** अर्थात् यम, नियम आदि योग के आठ अंगों से युक्त होकर ध्येय तत्त्व में तेल की अविच्छिन्न धारा के समान व्यवधानरहित निरन्तर चिन्तन को **'भक्तियोग'** कहते हैं।

'भक्ति' शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत के 'भज् सेवायाम्' धातु से हुई है जिसका अर्थ है –भजना या सेवा करना। नारदभक्तिसूत्र के अनुसार यह 'परमप्रेमा रूपा' और 'अमृत स्वरूपा' है, जिसे प्राप्त कर मनुष्य सिद्ध, अमर और तृप्त हो जाता है। शाण्डिल्यभक्तिसूत्र के अनुसार ईश्वर में परम अनुरक्ति ही भक्ति है। भागवत्पुराण के अनुसार भक्ति नौ प्रकार (श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन) की होती है, जिसे **नवधा भक्ति**कहते हैं-

श्रवणं कीर्तनं विष्णो: स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥ (भाग.पुराण, ७.५.२३)

इनमें से आत्मनिवेदन अर्थात् भगवान् के प्रति सर्वथा आत्मसमर्पण सर्वोच्च भक्ति मानी गई है। शरणागति या प्रपत्ति के छह भेद हैं-

आनुकूल्यस्य संकल्प: प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्।
रक्षयिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्वे वरणं तथा।
आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विधा शरणागति: ॥

अर्थात् भगवद्भक्ति के अनुकूल विषयों का संकल्प, प्रतिकूल विषयों का वर्जन, ईश्वर की रक्षाशक्ति पर विश्वास, ईश्वर का रक्षक के रूप में वरण, ईश्वर के प्रति आत्मसमर्पण एवं ईश्वर के आश्रित होने का दैन्यभाव ये छह प्रपत्ति के अंग हैं।

भक्ति भगवान् के प्रति उत्कट प्रेम है। अविवेकी पुरुषों की विषयों में जैसी उत्कट प्रीति होती है, वैसी ही उत्कट प्रीति जब वह अच्युत नित्य भगवान् के प्रति हो, तब उसे भक्ति कहते हैं।भक्ति ही मुक्ति का एकमात्र साधन है। वह भक्ति ही उपासना,ध्यान,ध्रुवानुस्मृति इत्यादि शब्दों से कही जाती है। ध्रुवानुस्मृति की प्राप्ति विवेक, विमोक, अभ्यास, क्रिया, कल्याण, अनवसाद तथा अनुद्धर्ष से होती है।

भक्ति वेदान्त में क्रममुक्ति के सिद्धान्त को स्वीकार किया जाता है। विशिष्टाद्वैत मतानुसार 'मुक्ति ब्रह्म का केवल अपरोक्ष ज्ञान ही नहीं, बल्कि ब्रह्मलोक की आध्यात्मिक तीर्थयात्रा और क्रमश: ब्रह्म की प्राप्ति है''(भारतीय दर्शन में मोक्ष चिन्तन, अशोक कुमार लाड, पृष्ठ 208)। मुक्ति के पञ्च सोपान हैं-

i. सालोक्य मुक्ति – ईश्वर के लोक की प्राप्ति करना

ii. सार्ष्टि मुक्ति – ईश्वर के ऐश्वर्य का उपभोग करना

iii. सामीप्य मुक्ति – ईश्वर के समीप रहना

iv. सारुप्य मुक्ति – ईश्वर के समान रूप प्राप्त करना

v. सायुज्य मुक्ति – ईश्वर के साथ ऐक्य हो जाना

जब कोई साधक कर्म, ज्ञान एवं भक्ति मार्ग का अनुसरण करता है तो इस साधना के उपरान्त उसे मुक्ति की प्राप्ति होती है। ऐसे में साधक के वर्तमान शरीर का पात होता है जिसके पश्चात् जीव देवयान से गमन करते हुए अपने इष्टदेव के लोक में पंहुच जाता है, यही उसकी 'सालोक्य मुक्ति' है। इष्टलोक में जीव ईश्वर के समान ऐश्वर्यों का उपभोग करता है जिसे 'सार्ष्टि मुक्ति' कहते हैं। देवलोक में ईश्वर की समीपता को प्राप्त कर लेना 'सामीप्य मुक्ति' है। ईश्वर के जैसा रूप मिलना 'सारुप्य मुक्ति' है। अन्ततः ब्रह्म में प्रवेश करके उनसे ऐक्य स्थापित करना 'सायुज्य मुक्ति' है, यही जीव की सर्वोच्च मुक्ति कहलाती है।

7.2.6 आचार्य रामानुज एवं श्रीभाष्य

रामानुज का जन्म केशव यज्वन् के पुत्र के रूप में सन् 1017 में हुआ। इन्होंने वेदान्त के निष्णात पण्डित यादव प्रकाश से शिक्षा प्राप्त की। इससे पूर्व 16 साल की उम्र में रामानुज के पिता ने उनका विवाह करा दिया। इसके बाद वे कांची चले गये तथा पहली बार यामुन का स्तोत्र रत्नम् सुना। स्तोत्ररत्नम् को सुनकर वे आचार्य यामुन के प्रति आकर्षित हुए और उनसे भेंट करने चल दिये, परन्तु रामानुज के पहुँचने से पहले ही वे परमधाम को प्राप्त हो गये। वहाँ पहुँचने पर आचार्य यामुन की तीन उंगलियाँ टेढ़ी पाई गई। रामानुज उनका संकेत समझ गये तथा उनकी तीन अपूर्ण इच्छाओं को पूर्ण करने का संकल्प किया, जिसमे श्रीभाष्य प्रमुख है और इसी ग्रन्थ के माध्यम से उन्होंने विशिष्टाद्वैत मत को पूर्णतया प्रतिष्ठित किया। आचार्य रामानुज के कुल 9 ग्रन्थ हैं जिनमें सर्वप्रथम गद्यत्रय है जिसमें तीन गद्य हैं- **शरणागतिगद्य, वैकुण्ठगद्य** तथा **श्रीरंगगद्य** । इसके अतिरिक्त इन्होंने ब्रह्मसूत्र पर **'वेदान्तसार', 'वेदार्थसंग्रह'** और **'वेदान्तदीप'** नामक भाष्य की रचना की।**भगवद्गीताभाष्य, श्रीभाष्य** तथा **नित्यग्रन्थ** भी उनकी कृतियाँ हैं।

बादरायण कृत ब्रह्मसूत्र चार अध्यायों में विभक्त है। प्रत्येक अध्याय चार पादों में विभक्त है तथा प्रत्येक पाद अधिकरणों में विभक्त है।आचार्य रामानुज ने इन सूत्रों पर विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के अनुसार भाष्यग्रन्थ का प्रणयन किया है जो 'श्रीभाष्य' नाम से प्रसिद्ध है।इसके प्रथम अध्याय का नाम **'समन्वय'** है। इसमें अनेक प्रकार की परस्पर विरुद्ध श्रुतियों का समन्वय ब्रह्म में दिखलाया गया है। इसके प्रथम चार सूत्र **'चतुःसूत्री'** के नाम से प्रसिद्ध हैं। द्वितीय अध्याय का नाम **'अविरोध'** है। इसके अन्तर्गत स्मृति और तर्कादि के द्वारा श्रुतियों की जो परस्पर विरोधी सम्मतियाँ हैं उनका मूल आशय प्रकट करके ब्रह्म में अविरोध दिखलाया गया है। तृतीय अध्यायका नाम **'साधन'** है। इसके अन्तर्गत प्रथमतः स्वर्गादि प्राप्ति के साधनों के दोष दिखलाकर ज्ञान एवं विद्या के वास्तविक स्रोत परमात्मा की उपासना प्रतिपादित की गयी है, जिसके द्वारा जीव ब्रह्म की प्राप्ति कर सकता है। चतुर्थ अध्याय का नाम **'फल'** है। इसके अन्तर्गत ब्रह्मलोक तक पहुँचने का वर्णन तथा जीवमुक्ति, जीवन्मुक्त की मृत्यु एवं परलोक में उसकी गति आदि का उल्लेख है। तथा अन्त में इस प्रकार का वर्णन भी है कि ब्रह्मप्राप्ति होने

से आत्मा की स्थिति किस प्रकार की होती है, जिससे वह संसार में आगमन नहीं करती है।

7.3 सारांश

भारतीय संस्कृति में ज्ञान–विज्ञान का स्रोत तथा जो भी जीवनदर्शन दिखाई देता है उसका मूलकारण वेद है। वेद भारतीय संस्कृति, धर्म तथा दर्शन का साक्षात् प्राण है। यह भारतीय साहित्य के सर्वप्रथम ग्रन्थ ही नहीं अपितु मानवमात्र के इतिहास में सर्वप्रथम ग्रन्थरत्न है। वेद को मीमांसा दर्शनकार अपौरुषेय कहते हैं। मानवधर्म तथा तत्वज्ञान का यही उदगम स्थान है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इस चतुर्विध पुरुषार्थ की प्राप्ति का सही साधन वेद में ही उपलब्ध होता है।

विषय की दृष्टि से वेद को तीन भागों में विभक्त किया गया है – कर्म, उपासना और ज्ञान। संहिता, ब्राह्मण तथा आरण्यकों में प्रधानतया कर्मादि का प्रतिपादन होने से उनका कर्म और उपासना में अन्तर्भाव है। प्रधानतया ज्ञान का विवेचन करने के कारण उपनिषद् ज्ञानकाण्ड कहलाते हैं। उपनिषद् प्रस्थानत्रयी के प्रथम प्रस्थान के रूप में गृहीत किये गये हैं। द्वितीय प्रस्थान श्रीमद्भग्वद्गीता है। तृतीय प्रस्थान महर्षि बादरायण व्यास प्रणीत ब्रह्मसूत्र है।

समय अनुसार औपनिषद् सिद्धान्तों में आपातत: विरोध प्रतीत होने लगा उसका परिहार करने तथा एक वाक्यता करने के उद्देश्य से भगवान् बादरायणमुनि ने ब्रह्मसूत्रों की रचना की। वेदान्त दर्शन, सांख्य-योग, न्यायादि सभी दर्शनों में महर्षि कृष्णद्वैपायनकृत ब्रह्मसूत्र अत्यन्त महत्वपूर्ण ग्रन्थ है जिसमें अतीव संक्षिप्तरूप से परब्रह्म के स्वरूप, उसकी प्राप्ति के साधन, उसकी उपासना एवं विज्ञान के फल का साङ्गोपाङ्ग निरूपण किया गया है।

द्वैत एवं अद्वैत के एकान्त दो विरोधों का समन्वय ही विशिष्टाद्वैत है। इस दर्शन के अनुसार केवल द्वैत एवं केवल अद्वैत दोनों ही कल्पना मात्र हैं क्योंकि किसी भी भेद को अभेद के बिना तथा अभेद को भेद के बिना स्वीकार नहीं किया जा सकता है। लोक में हम अनुभव करते हैं कि जहाँ भेद होता है वहाँ उस भेद के मूल में अभेद अवश्य होता है इसी तरह जहाँ अभेद की अनुभूति होती है वह भेद की अपेक्षा से ही होती है।

विशिष्टाद्वैत वेदान्त की परम्परा में नारायण को आदि उपदेष्टा स्वीकार किया जाता है। इसके पश्चात् लक्ष्मी, विष्वक्सेन, शठकोप तथा बोपदेव को इस परम्परा का मान्य उपदेशक माना जाता है। ऐतिहासिक रूप से आचार्य नाथमुनि विशिष्टाद्वैत मत के प्रथम मान्य आचार्य हैं। यामुनाचार्य, रामानुजाचार्य, लोकाचार्य, वेंकटनाथ (वेदान्तदेशिक) इस सम्प्रदाय के अन्य प्रसिद्ध आचार्य हैं।

विशिष्टाद्वैतवेदान्त में 'तत्त्वत्रय' के सिद्धान्त को स्वीकार किया जाता है। इसके अनुसार तत्त्व तीन हैं- चित्, अचित् एवं ईश्वर। 'चित्' चेतन जीवात्मा का वाचक है तथा 'अचित्' से अचेतन प्रकृति का ग्रहण किया जाता है। तृतीय तत्त्व को 'ईश्वर' की संज्ञा से विभूषित किया जाता है।आत्मा शरीर, इन्द्रिय, मन, प्राण तथा बुद्धि इन पांचों से भिन्न है। आत्मा स्वयंप्रकाश है अर्थात् उसे प्रकाशित होने के लिए किसी अन्य प्रकाश की आवश्यकता नहीं होती है। यह आत्मतत्त्व नित्य है, व्यापक है तथा प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न है। प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न होने के कारण आत्मा अनन्त है। आत्मा आनन्दस्वरूप भी है। आत्मा अव्यक्त है अर्थात् चक्षु, श्रोत आदि इन्द्रियों से उसकी उपलब्धि नहीं होती है। आत्मा निरवयव है तथा ज्ञान का

आश्रय भी है।

विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के अनुसार सृष्टि में विद्यमान अचेतन तथा जड़ पदार्थ को ही 'अचित्' कहा जाता है। इसका स्वरूप यह है कि अचित् तत्त्व ज्ञानशून्य तथा विकारास्पद द्रव्य होता है। विशिष्टाद्वैतदर्शन में परमसत्ता को ईश्वर या ब्रह्म कहा जाता है। ईश्वर तथा ब्रह्म एक ही हैं अर्थात् उनमें कोई तात्त्विक भेद नहीं है। यह दर्शन ईश्वर के सगुण रूप को स्वीकार करता है। ईश्वर ही इस सम्पूर्ण चराचर जगत का अभिन्ननिमित्तोपादानकारण है तथा चित् एवं अचित् का नियन्ता भी है। ईश्वर को संसार की समस्त वस्तुओं का स्वरूप ज्ञान है तथा वे उन सभी वस्तुओं के विशेष ज्ञान को भी वे धारित करते हैं, अतः श्रुतियाँ उन्हें सर्वज्ञ तथा सर्ववित् कहतीं हैं। दया, करुणा, ऋजुता आदि असंख्य कल्याणकारी गुण ईश्वर में विद्यमान हैं इसलिए उन्हें कल्याणगुणों का सागर कहा गया है। ईश्वर ही इस समस्त सृष्टि के कारण हैं अर्थात् यह सृष्टि उन्हीं से उत्पन्न होती है, उन्हीं में स्थित रहती है तथा प्रलयकाल में उन्हीं में लीन हो जाती है।

यथार्थ अनुभव या ज्ञान को प्रमा कहा जाता है। यहाँ यथार्थता से आशय पदार्थ के वास्तविक स्वरूप से है। जो वस्तु जैसी होती है अर्थात् पदार्थ का जो स्वरूप एवं स्वभाव होता है उसको उसी रूप में जानना या अनुभूत करना ही यथार्थ अनुभव कहलाता है। ज्ञान की इसी यथार्थता को प्रमा कहा जाता है। प्रमा त्रिविध है- प्रत्यक्ष, अनुमिति तथा शाब्द। विशिष्टाद्वैत दर्शन में तीन प्रमाण स्वीकार किये जाते हैं- प्रत्यक्ष, अनुमान एवं शब्द।

अनादि अविद्या(अज्ञान) के कारण जीव कर्म करता है। इन द्विविध कर्मों के कारण जीव शरीर, अन्तःकरण, प्राण, इन्द्रियदि निकायों से सम्बन्धित हो जाता है और इसे ही जीव का बन्धन कहा जाता है। बन्धन से निवृत्ति हेतु अविद्या एवं कर्ममलों का क्षय करना आवश्यक है जिसके लिए कर्म, ज्ञान एवं भक्ति तीनों की आवश्यकता पर विशिष्टाद्वैत मत में बल दिया गया है। उनका मानना है कि मोक्ष की साधना में नैतिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक अर्थात् कर्म, ज्ञान एवं भक्ति तीनों का समन्वय होना चाहिए। जब कोई साधक नैतिक कर्मों का आचरण करता है, आत्मज्ञान प्राप्त करता है तथा ईश्वर की अनन्य भक्ति करता है तो कर्मयोग, ज्ञानयोग एवं भक्तियोग के समन्वय से उसे मुक्ति प्राप्त होती है।

7.4 शब्दावली

दर्शन, आस्तिक, नास्तिक, वेदान्त, विशिष्टाद्वैत, तत्त्व, ज्ञान, भक्ति, मोक्ष, आगम, पाञ्चरात्र, जीव, कर्मयोग, ध्रुवानुस्मृति।

7.5 कुछ उपयोगी पुस्तकें

- वैष्णव सम्प्रदायों का साहित्य और सिद्धान्त, बलदेव उपाध्याय, चौखम्बा, वाराणसी, 1978
- भारतीय दर्शन : आलोचन एवं अनुशीलन, चन्द्रधर शर्मा, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1990
- संस्कृत वांग्मय का बृहद् इतिहास, दशम-खण्ड वेदान्त, (सं.) संगमलाल पाण्डेय, उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ, 1996
- A History of Indian Philosophy, S. N. Dasgupta, Motilal Banarasidas, Delhi, 1975

7.6 अभ्यास प्रश्न

i. विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के अनुसार 'चित्'तत्त्व का स्वरूप बताईये?

ii. ईश्वर की अभिव्यक्ति के विविध रूप कौन-कौन हैं ?

iii. कर्मयोग क्या है?

iv. क्रममुक्ति का विवेचन कीजिए ?

v. विशिष्टाद्वैत का अर्थ क्या है?

7.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

i. विशिष्टाद्वैत दर्शन में चेतन सत्ता को ही चित् तत्त्व या जीवात्मा के नाम से जाना जाता है। आत्मा स्वयंप्रकाश है अर्थात् उसे प्रकाशित होने के लिए किसी अन्य प्रकाश की आवश्यकता नहीं होती है। यह आत्मतत्त्व नित्य है, व्यापक है तथा प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न है। प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न होने के कारण आत्मा अनन्त है। आत्मा आनन्दस्वरूप भी है। जिस प्रकार उष्णता अग्नि का स्वभाव होती है उसी प्रकार आनन्द आत्मा का स्वभावधर्म है। इस मत में आत्मा को अजड़, अव्यक्त, अचिन्त्य, निरवयव, निर्विकार तथा ज्ञानाश्रय भी स्वीकार किया जाता है।

ii. परमात्मा के विविध रूप हैं जिनके माध्यम से वे सम्पूर्ण सृष्टि में व्याप्त रहते हैं तथा अपने भक्तों पर अनुग्रह करते हैं। उनके पांच रूप हैं- पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी तथा अर्चावतार। पर रूप से ईश्वर वैकुण्ठ लोक में निवास करते हैं तथा ज्ञान, शक्ति आदि षड्गुणों से परिपूर्ण होकर प्रकाशमान रहते हैं। व्यूहरूप में ईश्वर वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध इन चार व्यूहों के रूप में अभिव्यक्त होते हैं। परमात्मा के राम, कृष्ण आदि अनन्त अवतार ही उनका विभव रूप है। अन्तर्यामी रूप से ईश्वर प्रत्येक प्राणी के हृदय में विद्यमान रहते हैं। अर्चावतार रूप में ईश्वर मंदिरों में मूर्तियों तथा विग्रह रूप में विराजमान हैं।

iii. जब कोई साधक स्व वर्ण एवं आश्रम में विहित कर्मों का अनुष्ठान करता है और उसका यह अनुष्ठान किसी फल की कामना से न होकर केवल ईश्वर की प्रीति के निमित्त होता है तो इसे ही 'कर्मयोग' कहा जाता है। आचार्य के द्वारा जीवात्मा-परमात्मा के उपदेश को सुनकर जिसे उनका यथार्थ ज्ञान हो गया है, ऐसे साधक के द्वारा फल की कामना से रहित होकर एवं अपनी सामर्थ्य के अनुसार काम्य एवं निषिद्ध कर्मों का परित्याग करते हुए नित्य एवं नैमित्तिक कर्मों का आचरण करना ही **'कर्मयोग'** है। ईश्वर की उपासना, तपस्या, तीर्थयात्रा करना, दान करना आदि कर्मयोग के अन्तर्गत आते हैं।

iv. जब कोई साधक कर्म, ज्ञान एवं भक्ति मार्ग का अनुसरण करता है तो इस साधना के उपरान्त उसे मुक्ति की प्राप्ति होती है। ऐसे में साधक के वर्तमान शरीर का पात होता है जिसके पश्चात् जीव देवयान से गमन करते हुए अपने इष्टदेव के लोक में पंहुच जाता है, यही उसकी 'सालोक्य मुक्ति' है। इष्टलोक में जीव ईश्वर के समान ऐश्वर्यों का उपभोग करता है जिसे 'सार्ष्टि मुक्ति' कहते हैं। देवलोक में ईश्वर की समीपता को प्राप्त कर लेना 'सामीप्य मुक्ति' है। ईश्वर के जैसा रूप मिलना 'सारुप्य मुक्ति' है। अन्ततः ब्रह्म में प्रवेश

करके उनसे ऐक्य स्थापित करना 'सायुज्य मुक्ति' है, यही जीव की सर्वोच्च मुक्ति कहलाती है।

v. वह अद्वैत जो द्वैत से विशिष्ट होता है, उसे ही 'विशिष्टाद्वैत' कहा जाता है। विशिष्ट पद का अर्थ है – विशेषण एवं विशेष्य भाव से युक्त। जिस अनुभूति में विशेषण एवं विशेष्य संयुक्त होते हैं, उसे विशिष्ट अनुभव कहते हैं। द्वैत विशिष्ट अद्वैत को ही 'विशिष्टाद्वैत' कहते हैं। विशिष्टाद्वैत में द्वैत विशेषण होता है तथा अद्वैत विशेष्य होता है। एक और प्रकार से विशिष्टाद्वैत पद की व्याख्या की जाती है। विशिष्टाद्वैत मत में तीन सत्ताएं स्वीकृत हैं- चित्, अचित् तथा ब्रह्म। चित् एवं अचित् विशेषण हैं तथा ब्रह्म विशेष्य है, अतः ब्रह्म चिदचिद्विशिष्ट है, यही उनका विशिष्टाद्वैत है।

इकाई 8 अथातो ब्रह्मजिज्ञासा (ब्रह्मसूत्र 1.1.1, लघुसिद्धान्त तक श्रीभाष्य)

8.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप :

- सगुण ब्रह्म के स्वरूप से अवगत होंगे।
- सूत्र में प्रयुक्त अथ, अतः, ब्रह्म एवं जिज्ञासा पद के अर्थको जानेंगे।
- वेदाध्ययन की प्रविधि की जानकारी प्राप्त करेंगे।
- मुक्ति के कर्ममार्ग, ज्ञानमार्ग एवं भक्तिमार्ग से परिचित होंगे।
- ध्रुवानुस्मृति के साधनों का ज्ञान करेंगे।
- भक्ति के स्वरूप एवं महत्त्व से अवगत होंगे।

8.1 प्रस्तावना

भारतीय विचारधारा के विकासपथ में उपनिषदों का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। भारतीय दर्शन की सभी परवर्ती पद्धतियों का मूल उपनिषदों में पाया जाता है। उपनिषदों में प्रशान्त प्रज्ञा एवं सूक्ष्म तर्क द्वारा चरम सत्य की प्राप्ति हेतु तीव्र जिज्ञासा अभिव्यक्त हुई है। ब्रह्मसूत्र इन्हीं उपनिषदीय सिद्धांतों का सूत्रमय सारांश है। वेदान्तदर्शन की प्रस्थानत्रयी में परिगणित ब्रह्मसूत्र न्यायप्रस्थान का प्रतिनिधि शास्त्र हैं। इसमें सूत्रशैली में परब्रह्म के स्वरूप का सांगोपांगनिरूपण किया गया है। आचार्य शंकर ने 'गीताभाष्य' में ब्रह्मसूत्र पद की व्याख्या करते हुए कहा है - 'ब्रह्मणः सूचकानि वाक्यानि ब्रह्मसूत्रणि तैः पदैः गम्यते ज्ञायते इति।' ब्रह्मसूत्र में ब्रह्मविषयक विचारों की मीमांसा का ही प्रणयन किया गया है। आचार्य रामानुज ने बादरायण के ब्रह्मसूत्र पर श्रीभाष्य नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया है जिसमें सूत्रों की विशिष्टाद्वैत मतानुसार व्याख्या की गयी है।

8.2 अथातो ब्रह्मजिज्ञासा 1.1.1

महर्षि बादरायण विरचित ब्रह्मसूत्र का प्रथम सूत्र है – 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' । इस सूत्र पर भाष्य लिखने से पूर्व आचार्य रामानुज ने स्वग्रन्थ की निर्विघ्न परिसमाप्ति हेतु मंगलाचरण किया है। प्रथम मंगल श्लोक है-

> **अखिलभुवनजन्मस्थेमभंगादिलीले विनतविविधभूतव्रातरक्षैकदीक्षे।**
> **श्रुतिशिरसि विदीप्ते ब्रह्मणि श्रीनिवासे भवतु मम परस्मिन् शेमुषी भक्तिरूपा॥**

अन्वय: अखिलभुवनजन्मस्थेमभंगादिलीले, विनतविविधभूतव्रातरक्षैकदीक्षे, श्रुतिशिरसि विदीप्ते, श्रीनिवासे परस्मिन् ब्रह्मणि, मम शेमुषी भक्तिरूपा भवतु।

अनुवाद: सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति, स्थिति एवं प्रलय जिनकी लीलामात्र है, जो श्रद्धावनत विभिन्न प्रकार के प्राणियों की रक्षा के लिए कृतसंकल्प हैं, जिनका विशिष्ट स्वरूप उपनिषदों में प्रतिपादित है ऐसे श्रीनिवास संज्ञक परब्रह्म में मेरी (आचार्य रामानुज की) बुद्धि भक्तिस्वरूपा हो।

व्याख्या: उपासनात्मक भक्ति को मुक्ति का साधन मानने वाले आचार्य रामानुज श्रीभाष्य के आरम्भ में प्रकृत श्लोक द्वारा भगवान् नारायण के आराधना स्वरूप मंगलाचरण को प्रस्तुत करते हैं। 'न खिलं इति अखिलं' इस विग्रह के अनुसार अखिल शब्द सम्पूर्णता का वाचक है। 'भवति इति भुवनम्' अर्थात् जो उत्पन्न होता है वह सब भुवन शब्द का वाचक है। इस संसार में जितने भी प्रकार के प्राणिवर्ग हैं चाहे वे मनुष्य हों, पशु हों, पक्षी हों अथवा जड़ वस्तुएं हों; उन समस्त प्रकार की सन्ततियों की उत्पत्ति भगवान् नारायण के द्वारा ही होती है। यहाँ 'जन्म' पद के द्वारा तीनों प्रकार की सृष्टि को बताया गया है –

i) नित्यसृष्टि: नित्य प्रतिदिन होने वाली सृष्टि यथा- शिशु, शावक आदि

ii) नैमित्तिक सृष्टि: अवान्तर प्रलय के बाद पुनः सृष्टि

iii) प्राकृतिक सृष्टि: प्रकृति के द्वारा निर्मित सृष्टि

'स्थेमा' पद स्थिति का वाचक है। ब्रह्म ही इस जगत का स्थितिकारण है। सभी उत्पन्न होने वालों का पालन-पोषण भी उन्हीं भगवान् के द्वारा किया जाता है। भगवान् अन्तर्यामी रूप में, अवतारों के रूप में, लोकपाल रूप में, राजा के रूप में तथा माता-पिता आदि अनेक रूपों में

जगत का पालन करते हैं। जब ये प्राणी अपने कर्मफलों का उपभोग करने के पश्चात् नाशभाव को प्राप्त होते हैं तो यही भगवान् उन्हें अपने भीतर समाहित कर लेते हैं अर्थात् इस सृष्टि की उत्पत्ति, इसकी सत्ता तथा इसका नाश उन्हीं नारायण के द्वारा सम्पादित किया जाता है।

यद्यपि उत्पत्ति, स्थिति एवं प्रलय ये तीनों कार्य सामान्य प्राणियों के लिए अत्यन्त दुरूह एवं दुष्कर हैं किन्तु भगवान् के लिए ये लीलामात्र हैं क्योंकि वे सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान हैं। लीला पद वस्तुतः ईश्वर की परिपूर्णता, स्वतन्त्रता एवं स्वेच्छाजन्यता को द्योतित करता है। शिशु के क्रीडारस की भांति संसार की सृष्टि, स्थिति एवं प्रलय ईश्वर के लिए क्रीड़ास्वरूप ही है। ऐसे भगवान् की दूसरी विशेषता निरुपित करते हुए भाष्यकार का कथन है कि श्रीनिवास परब्रह्म संसार के सभी प्राणियों की रक्षा के लिए दृढ़व्रत हैं। जो भी प्राणी श्रद्धा एवं भक्ति के साथ भगवान् की उपासना करते हैं, भगवान् ऐसे सभी प्राणियों की रक्षा का संकल्प ले लेते हैं। ऐसे प्राणियों का सर्वविध कल्याण ही परमात्मा का एकमात्र संकल्प होता है। 'भूतव्रात' पद एक विशिष्ट अर्थ को व्यंजित करता है। 'भूतानां तत्सम्बन्धिनां व्रातः भूतव्रातः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार भगवान् न केवल अपनी भक्ति करने वाले प्राणियों का कल्याण करते हैं अपितु उन प्राणियों के सम्बन्धी भी भगवान् के रक्ष्य हो जाते हैं। इस सम्बन्ध में वैष्णव परम्परा में यह उक्ति बहुप्रचलित है-

आस्फोटयन्ति पितरः प्रनृत्यन्ति पितामहाः।
वैष्णवो नः कुले जातः स नः संतारयिष्यति॥

ऐसे परब्रह्म भगवान् जिन्हें श्रीनिवास संज्ञा से विभूषित किया जाता है उनके विशेष स्वरूप का परिज्ञान उपनिषदों से प्राप्त होता है। ईश, केन, कठ आदि उपनिषद् ग्रन्थों में ब्रह्म का लक्षण, उनका स्वरूप, उनकी भक्ति आदि विषयों का निरूपण विस्तार से किया गया है। 'परस्मिन् ब्रह्मणि श्रीनिवासे' इस वाक्यांश में उपेय श्रीनिवास में जगत्कारणत्व को बताया गया है। 'ब्रह्म' पद सामान्य शब्द है जो ईश्वर के विभुत्व एवं सकल प्राणी वृद्धित्व को द्योतित करता है जबकि 'श्रीनिवास' एक विशेष शब्द है जो श्री अर्थात् लक्ष्मीपति को संकेतित करता है। आचार्य रामानुज की यह कामना है कि ऐसे परब्रह्म में उनकी भक्ति निरन्तर बनी रहे। 'शेमुषी भक्तिरूपा' इस अंश से आचार्य ने भक्ति रूप उपाय की ओर इंगित किया है जिसका आशय है कि उपासनात्मक भक्ति से ही मुक्ति की प्राप्ति सम्भव है।

विशेषः अखिल पद का 'अकार' भगवान् नारायण का वाचक है जैसा कि श्रुतिप्रकाशिकाकार का वचन है –'अ इति भगवतो नारायणस्य प्रथमाभिधानम्'।

पराशरवचस्सुधामुपनिषद्दुग्धाब्धिमध्योधृतां
संसाराग्निविदीपनव्यपगतप्राणात्मसंजीवनीम्।
पूर्वाचार्यसुरक्षितां बहुमतिव्याघातदूरस्थिता-
मानीतां तु निजाक्षरैः सुमनसो भौमाः पिबन्त्वन्वहम्॥2॥

अन्वयः उपनिषद्दुग्धाब्धिमध्योधृतां, पराशरवचस्सुधां, संसाराग्निविदीपनव्यपगतप्राणात्मसंजीवनीम्, पूर्वाचार्यसुरक्षितां, बहुमतिव्याघातदूरस्थितां, निजाक्षरैः तु आनीतां, सुमनसः भौमाः अन्वहं पिबन्तु।

व्याख्याः इस द्वितीय मंगल पद्य में आचार्य रामानुज ब्रह्मसूत्रकर्त्ता आचार्य बादरायण के प्रति अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करते हुए श्रीभाष्य की रचना के प्रयोजन एवं उसकी उपादेयता को इंगित

करते हैं। सुविदित तथ्य है कि ब्रह्मसूत्र उपनिषदों के सूत्रमय सारांश हैं। जिस प्रकार समुद्रमंथन के द्वारा अमृत को बाहर निकाला गया था जिसका पान करके देवताओं ने अमृतत्व को प्राप्त कर लिया था उसी प्रकार उपनिषद् रुपी क्षीरसागर का आलोडन करके महर्षि बादरायण (पाराशर्य) ने ब्रह्मसूत्र रुपी अमृत का प्रकटन किया है । यह ब्रह्मसूत्र आध्यात्मिक, आधिभौतिक एवं आधिदैविक इन तीन प्रकार के दुःखों से संतप्त प्राणियों के लिए अमृततुल्य है जो उन्हें संजीवनी प्रदान करती है। जो प्राणी भगवद्भक्ति से विमुख हो चुके हैं ऐसे मृतप्राय प्राणी यदि इस ब्रह्मसूत्र के अमृतरस का पान करते हैं अर्थात् उसका श्रवण-मनन करते हैं, वे समस्त सांसारिक दुःखों से निवृत्त हो जाते हैं तथा ऐकान्तिक एवं आत्यन्तिक दुःखनिवृत्तिरूप मोक्ष को प्राप्त कर लेते हैं।

ब्रह्मसूत्रों की इस व्याख्यान परम्परा को विशिष्टाद्वैत सम्प्रदाय के अनेक पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा विभिन्न कालों में सुरक्षित रखा गया है। यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि यदि रामानुज के पूर्ववर्ती सम्प्रदायविद् आचार्यों के द्वारा ब्रह्मसूत्र का व्याख्यान कर दिया गया है तो आचार्य रामानुज अपने श्रीभाष्य में किन तथ्यों का व्याख्यान करेंगे। इसका उत्तर आचार्य द्वारा यह दिया गया है कि अनेक पूर्ववर्ती आचार्यों के व्याख्यानों में मतवैभिन्न के कारण जिज्ञासु के समक्ष ब्रह्मसूत्र का वास्तविक अर्थ प्रकट नहीं हो पा रहा है। एतदर्थ ही आचार्य द्वारा अपना यह व्याख्यान (श्रीभाष्य) प्रस्तुत किया गया है तथा यह कहा गया है कि जो भी शोभन हृदय वाले प्राणी हैं वे इसका प्रतिदिन परायण करें।

8.2.1 'अथ' शब्द का अर्थ विचार

भाष्यकार आचार्य रामानुज के अनुसार 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इस सूत्र में तीन पद हैं- अथ, अतः और ब्रह्मजिज्ञासा। यहाँ अथ पद आनन्तर्य का वाचक है, अतः पद कारणता को बताता है तथा ब्रह्मजिज्ञासा पद ब्रह्मविषयकविचार रूप अर्थ का वाचक है। इस प्रकार सूत्र का तात्पर्य है कि वेदाध्ययन के पश्चात्जिज्ञासु को यह बोध होता है कि केवल कर्मज्ञान का फल अल्प एवं अस्थिर होता है जबकि ब्रह्मज्ञान का फल अनन्त एवं स्थिर होता है। मानव स्वभाव है कि वह अल्प एवं क्षयशील फल की अपेक्षा नित्य एवं अक्षय फल को ही प्राप्त करना चाहता है। इस प्रकार का सद्ज्ञान होने पर कि अल्प एवं क्षयशील फल की अपेक्षा अनन्त एवं अक्षय फल अधिक लाभप्रद है और वह अक्षय फल तो ब्रह्म की जिज्ञासा से ही प्राप्त होता है, अतः साधक को ब्रह्मजिज्ञासा करनी चाहिए।

आचार्य रामानुज के अनुसार 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' सूत्र में अथ शब्द 'आनन्तर्य' का वाचक है। यद्यपि परम्परा में अथ शब्द के अनेक अर्थ हैं जैसा कि अमरकोशकार का वचन है – 'मंगलानन्तरारम्भोप्रश्नकात्स्न्येष्वथोऽथ' अर्थात् अथ शब्द मंगल, अनन्तर, आरम्भ, प्रश्न एवं कात्स्नर्य(सम्पूर्णता) इन अर्थों को द्योतित करने के लिए प्रयुक्त होता है। इन सभी अर्थों में से प्रकृत सूत्र में अथ शब्द का आनन्तर्य अर्थ अपेक्षित है क्योंकि उसी की सूत्रार्थ के साथ संगति है।आनन्तर्य का अर्थ है- इसके पश्चात्, अतः यह शब्द किसी अगले कार्य की अपेक्षा रखता है, जिसकी प्रतिपूर्ति हेतु सूत्र में अतः एवं ब्रह्मजिज्ञासा इन दो पदों का सन्निवेश किया गया है। भाष्यकार के अनुसार 'अतः' पद पूर्ववृत्त की कारणता' को बताता है। जब कोई जिज्ञासु वेदांगों एवं उपनिषदों के साथ वेदाध्ययन कर लेता है तो उसे यह ज्ञात हो जाता है कि कर्मकांड में निरुपित कर्मों का ज्ञान प्राप्त करने पर उससे मिलने वाला फल अल्प होता है एवं समाप्त हो जाता है, इसके विपरीत ज्ञानकांड में निरुपित ब्रह्मजिज्ञासा का फल अनन्त होता है एवं कभी भी

समाप्त नहीं होता है। विवेकी जिज्ञासु जब यह ज्ञान प्राप्त कर लेता है तब वह यह निर्णय लेने में सक्षम हो जाता है कि अल्प एवं अस्थिर फल की अपेक्षा नित्य एवं अक्षय फल प्राप्त करना चाहिए। इसके लिए उसे ब्रह्मजिज्ञासा करनी चाहिए क्योंकि वह अक्षयफल (मोक्ष) परब्रह्म के श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन से ही प्राप्त होता है। इसलिए जिज्ञासु के चित्त में ब्रह्मजिज्ञासा निश्चित रूप से उदित हो जाती है।

8.2.2 'ब्रह्मजिज्ञासा' का अर्थ

आचार्य का कथन है कि इस पद में षष्ठी तत्पुरुष समास है जिसका स्वरूप है – 'ब्राह्मणो जिज्ञासा ब्रह्मजिज्ञासा'।'ब्रह्मण:' पद में षष्ठी विभक्ति है जो कि कर्म के अर्थ में है। यद्यपि षष्ठी विभक्ति शेष अर्थ में भी होती है किन्तु आचार्य ने यहाँ कर्मषष्ठी का अर्थ ही गृहीत किया है।पाणिनीय व्याकरण के अनुसार 'कर्तृकर्मणो कृति:' इस सूत्र से कर्म के अर्थ में षष्ठी विभक्ति का विधान होता है जिसका अर्थ यह है कि यदि कृत् प्रत्ययान्त पद परे हो तो तो कर्त्ता एवं कर्म में षष्ठी विभक्ति होती है। ब्रह्मजिज्ञासा' पद में प्रयुक्त जिज्ञासा पद कृदन्त है क्योंकि उसकी निष्पत्ति ज्ञा अवबोधने धातु से 'ज्ञातुम् इच्छा' इस अर्थ में कृत् प्रत्यय 'सन्' के योग से होती है। अतः कृदन्त पद 'जिज्ञासा' के योग में ब्रह्मण: पद में कर्मषष्ठी का विधान हुआ है।

यद्यपि सम्बन्धसामान्य के अर्थ में 'षष्ठी शेषे' इस सूत्र से शेष के अर्थ में षष्ठी विभक्ति करने पर भी ब्रह्म के कर्मत्व की सिद्धि हो जाती है किन्तु यह आक्षेपलभ्य कर्मत्व है क्योंकि प्रत्येक जिज्ञासा कर्मसापेक्ष होती है। कर्म षष्ठी एवं शेष षष्ठी दोनों ही स्थितियों में ब्रह्म ही जिज्ञासा का कर्म सिद्ध होता है किन्तु दार्शनिक निकाय में आक्षेपलभ्य अर्थ की अपेक्षा मुख्यवृत्ति से लभ्य अर्थ को प्रधानता दी जाती है, अतः यहाँ भी ब्रह्मण: पद में कर्म में ही षष्ठी विभक्ति माननी चाहिए।पूर्वपक्ष एक आक्षेप प्रस्तुत करता है कि 'प्रतिपदविधाना षष्ठी न समस्यते' इस वार्तिक के अनुसार जिज्ञासा पद का ब्रह्म पद के साथ समास नहीं बन पायेगा अतः शेष षष्ठी मानना ही संगत है। इसका समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं कि शेष षष्ठी स्वीकार करने पर ब्रह्मसम्बन्धी (ब्रह्म में प्रमाण, उपाय आदि) भी जिज्ञास्य हो जाएंगे जो कि अनपेक्षित है; पुनश्च 'कृद्योगा षष्ठी समस्यते' इस नियम के अनुसार कृत् प्रत्ययान्त 'जिज्ञासा' पद के कारण षष्ठी विभक्ति कर्म के अर्थ में होने के कारण उसका समास युक्तियुक्त है।

8.2.3 'ब्रह्म' का लक्षण

आचार्य के अनुसार 'ब्रह्मजिज्ञासा' पद में प्रयुक्त 'ब्रह्म' शब्द पुरुषोत्तम का वाचक है जो कि स्वभावत: समस्त दोषों से रहित, सीमातीत और असंख्य कल्याणगुणों के सागर हैं।ब्रह्म शब्द बृह् वृद्धौ धातु तथा बृंहु उपबृहंणे धातु से मनिन प्रत्यय के योग से निष्पन्न होता है जो मुख्यार्थवृत्ति के द्वारा भगवान् नारायण को ही द्योतित करता है। यहाँ एक शंका प्रस्तुत की गई है कि लोक में तथा शास्त्र में ब्रह्म पद अन्य सत्ताओं (प्रकृति, ब्रह्मा, वेद आदि) के लिए भी प्रयुक्त होता हुआ देखा जाता है तो क्या यहाँ भी उनके लिए ही ब्रह्म शब्द का प्रयोग हुआ है। इसका समाधान करते हुए आचार्य रामानुज का कथन है कि स्वरूप तथा गुणों के द्वारा सीमातीत और सर्वोत्कृष्ट बृहत्व जिसमें विद्यमान हो वही ब्रह्म पद का वाच्य हो सकता है। मुख्यार्थतः वही सर्वेश्वर है। इससे भिन्न अर्थों में जहाँ भी ब्रह्म शब्द का प्रयोग किया जाता है वहाँ ब्रह्म के गुणों के लेशमात्र संसर्ग के कारण उसे औपचारिक प्रयोग समझना चाहिए।यथा- लोक में भगवान् शब्द का प्रयोग ऋषियों, महर्षियों (भगवान् वशिष्ठ, भगवान् विश्वामित्र आदि) के लिए भी देखा जाता है किन्तु यह औपचारिक है क्योंकि भगवान् शब्द मुख्यतः परमेश्वर का

ही वाचक है ।अतः जिस प्रकार भगवत् शब्द को अनेकार्थक नहीं माना जाता है उसी प्रकार ब्रह्म शब्द भी अनेकार्थक नहीं है ।सांसारिक त्रिविध दु:खों से पीड़ित प्राणियों के दु:खत्रयनिवृत्ति तथा उनके मोक्ष हेतु सबके स्वामी श्रीभगवान्(नारायण) ही जिज्ञास्य हैं इसलिए उन्हें ही जिज्ञासा का कर्म कहा गया है।

8.2.4 'जिज्ञासा' शब्द का अर्थ

आचार्य के अनुसार मुमुक्षु जीवों के लिए ब्रह्म ही जिज्ञास्य हैं। जिज्ञासा का अर्थ है – जानने की इच्छा (ज्ञातुमिच्छा जिज्ञासा)। इच्छा में इष्यमाण की प्रधानता होती है क्योंकि बिना इष्यमाण के इच्छा नहीं होती है ।इस सूत्र में इष्यमाण रूप से ज्ञान का विधान किया किया जाता है। आशय यह है जब जिज्ञासु वेदाध्ययन के उपरान्त पूर्वमीमांसा शास्त्र का अध्ययन करता है तो उसे कर्मों की अल्पफलता तथा क्षयशीलता का बोध हो जाता है एवं उत्तरमीमांसा (उपनिषदों) के अध्ययन से ब्रह्मज्ञान रूप फल की नित्यता तथा अक्षयता का भी बोध हो जाता है। अतः उसे यह स्पष्ठ हो जाता है कि अनन्त एवं अक्षय फललाभ के लिए ब्रह्म की ही जिज्ञासा करनी चाहिए।

8.2.5 पूर्वमीमांसा एवं उत्तरमीमांसा की एकशास्त्रता

आचार्य ने पूर्वमीमांसा तथा उत्तरमीमांसा में एकशास्त्रता का प्रतिपादन किया है ।वृत्तिकार का भी मत है कि कर्मविचार के पश्चात् ही ब्रह्मविचार किया जाता है। इस सम्बन्ध में एक तर्क यह है कि कर्ममीमांसा एवं ब्रह्ममीमांसा में एकशास्त्रता है क्योंकि ये दोनों मीमांसाएं वेद का ही व्याख्यान प्रस्तुत करती हैं ।मीमांसाशास्त्र को षोडशलक्षणी-मीमांसा भी कहा जाता है जिसमें बारह अध्याय महर्षि जैमिनिप्रोक्त पूर्वमीमांसा(मीमांसासूत्र) के तथा चार अध्याय आचार्य बादरायणकृत उत्तरमीमांसा (ब्रह्मसूत्र) के हैं। मीमांसाशास्त्र 'अथातो धर्मजिज्ञासा'(मीमांसासूत्र, 1.1.1) से आरम्भ होकर 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'(ब्रह्मसूत्र, 4.4.22) तक व्यापृत है ।जिस प्रकार भगवद्गीता के अठारह अध्यायों में कर्म, ज्ञान एवं भक्ति के तीन षटक हैं किन्तु उनमें एकशास्त्रता है उसी प्रकार अर्थभेद होने पर भी पूर्वमीमांसा एवं उत्तरमीमांसा एकशास्त्र हैं। यदि यह आशंका हो कि दोनों मीमांसाओं के प्रणेता भिन्न-भिन्न हैं अतः दोनों को अलग शास्त्र मानना चाहिए तो इसका उत्तर यह है जिस प्रकार कादम्बरी में पूर्वभाग के कर्त्ता बाणभट्ट एवं उत्तरभाग के कर्त्ता भूषणभट्ट हैं किन्तु सम्पूर्ण कादम्बरी को एक ग्रन्थ माना जाता है उसी प्रकार पूर्वमीमांसा आचार्य जैमिनि तथा उत्तरमीमांसा के आचार्य बादरायण द्वारा रचित होने पर भी उसमें एकशास्त्रता है।

8.2.6 अध्ययनपदार्थ का निरूपण

आचार्य रामानुज ब्रह्मजिज्ञासा में जिज्ञासु की प्रवृत्ति का क्रम एवं उसका स्वरूप स्पष्ठ करते हैं। अध्ययन श्रुति 'स्वाध्यायोऽध्येतव्य:'(तैत्तिरीय आरण्यक,2.25) का प्रतिपाद्य है कि प्रत्येक अधिकारी को अपनी शाखा के वेद का अध्ययन करना चाहिए ।इस श्रुति में स्वाध्याय पद का अर्थ है 'वेद'तथा अध्ययन का अर्थ 'अक्षरराशि का ग्रहण' है ।इस अध्ययन का स्वरूप शास्त्रों में इस प्रकार कहा गया है कि सर्वप्रथम आठ वर्ष के ब्राह्मण बालक का श्रावण या भाद्रपद की पूर्णिमा को यथाविधि उपनयन संस्कार करके वेदाध्ययन कराना चाहिए ।इस प्रकार से उपनीत शिष्य जब किसी कुलीन, सदाचारनिष्ठ, आत्मगुणसम्पन्न तथा वेदज्ञ आचार्य से वेद का उच्चारण सुनता है और तत्पश्चात् वह उस अक्षरराशि को कंठस्थ कर लेता है तो इसी प्रक्रिया

को अध्ययन कहते हैं।

इस प्रकार से अध्ययन के द्वारा स्वाध्याय(वेद) का अक्षर संस्कार होता है।श्रुति के अनुसार वेद ही अध्ययन क्रिया का कर्म है।संस्कार का लक्षण है – 'संस्कारो हि नाम कार्यान्तरयोग्यताकरणम्' अर्थात् दूसरे कार्यों को करने की योग्यता का आधान ही संस्कार कहलाता है।वेदों को संस्कार का विषय होना इसलिए संगत है क्योंकि वेद धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों की प्राप्ति का मार्ग बताते हैं।जिस प्रकार जप, मन्त्र आदि संस्कारों से संस्कृत होने पर ही फलप्राप्ति के लिए उपयोगी होते हैं उसी प्रकार पुरुषार्थचतुष्ट्य की सिद्धि हेतु वेदों का संस्कार-संस्कृत होना उचित है। आशय यह है कि वेद अध्ययन द्वारा संस्कारित किये गए वेद ही अनुष्ठानों में उपयोगी होते हैं।इस प्रकार 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस श्रुति से प्रतिपादित अध्ययन विधि का पर्यवसान वेद की अक्षरराशि के ग्रहण में उसी प्रकार होता है जिस प्रकार मन्त्रों एवं नियमों का पर्यवसान अक्षरग्रहण में होता है।निष्कर्षतः वेदाध्ययन का अर्थ उसका कंठस्थीकरणमात्र है।

अध्ययन विधि द्वारा वेद को कंठस्थ करने वाला जिज्ञासु वेदों में निरुपित प्रयोजनों के स्वरुप, अर्थ तथा साधनों आदि की जानकारी के लिए मीमांसाशास्त्र के अध्ययन हेतु उन्मुख होता है। यहाँ वह दो प्रकार के श्रुतिवाक्यों को देखता है- पूर्वमीमांसा में पठित प्रथम प्रकार के वाक्य जिनमें कर्मों के फल को अल्पतथा क्षयशील कहा गया है, यथा- 'तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते', 'अन्तवदेवास्य तद् भवति' आदि। उत्तरमीमांसा में पठित वाक्य जिनमें यह कहा गया है कि ब्रह्मज्ञान का फल अक्षय एवं अनन्त होता है , यथा- 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्', तमेव विद्वानमृत इह भवति' आदि।इसके उपरान्त जिज्ञासु की उत्तरमीमांसा में स्वभावतः प्रवृत्ति हो जाती है।

8.2.7 ब्रह्मविचार की कर्मसापेक्षता

विशिष्टाद्वैत मत के अनुसार ब्रह्मजिज्ञासा में प्रवृत्ति का क्रम यह है कि सर्वप्रथम जिज्ञासु वेदाध्ययन करता है, उसके पश्चात् वह पूर्वमीमांसा के अनुसार धर्मविचार करता है जहाँ उसे कर्मों की अल्पफलता और क्षयशीलता का बोध होता है और फिर वह अक्षयफल की प्राप्ति हेतु ब्रह्मजिज्ञासा में प्रवृत्त होता है।इस मान्यता पर पूर्वपक्ष का आक्षेप है कि जिज्ञासु जब साङ्गसशिरस्क वेदाध्ययन करता है तभी उसे कर्मफलों की अनित्यता का ज्ञान हो जाता है, अतः उसे पूर्वमीमांसा के धर्मविचार की कोई आवश्यकता नहीं है, उसे वेदाध्ययन के तुरन्त बाद ब्रह्मजिज्ञासा में प्रवृत्त हो जाना चाहिए।आचार्य का उत्तर है कि इस तर्क के अनुसार तो जिज्ञासु को ब्रह्मजिज्ञासा में भी प्रवृत्त नहीं होना चाहिए क्योंकि उसने वेदाध्ययन करते समय ही उपनिषदों के अध्ययन द्वारा ब्रह्म का ज्ञान तो प्राप्त ही कर लिया है।पूर्वपक्षी इसका समाधान करता है कि यद्यपि यह कथन सत्य है तथापि वेदाध्ययन के समय ज्ञात ब्रह्म का स्वरूप अनिर्णीत एवं संशयित रहता है जिसके यथार्थ बोध(निर्णयात्मक ज्ञान) के लिए मुमुक्षु को ब्रह्मजिज्ञासा अर्थात् वेदान्तवाक्यों पर विचार करना चाहिए।इस पर भाष्यकार का उत्तर है कि जिस प्रकार वेदाध्ययन के द्वारा गृहीत वेदान्तवाक्यार्थ के विषय में संशय बना रहता है उसी प्रकार कर्मों के स्वरूप के विषय में भी संशय बना रहता है और जिस तरह वेदान्तार्थ निर्णय हेतु शारीरकमीमांसा का विचार अपेक्षित है उसी प्रकार कर्मों के स्वरूप निर्णयार्थ कर्मविचार भी आवश्यक ही है।

8.2.8 कर्म की ज्ञानांगता का निषेध

आचार्य रामानुज ने अद्वैतवेदान्त को पूर्वपक्ष के रूप में रखते हुए उनके मत का निराकरण किया है। अद्वैतवेदान्त का सिद्धान्त है कि 'कर्मज्ञान ब्रह्मजिज्ञासा का पूर्ववृत्त नहीं हो सकता है' किन्तु विशिष्टाद्वैत में कर्मविचार को ब्रह्मविचार के नियत पूर्ववृत्त के रूप में स्वीकार किया जाता है।पूर्वपक्ष का कथन है कि ब्रह्मविचार का पूर्ववृत्त उसे ही स्वीकार करना चाहिए जिसके होने पर ब्रह्मजिज्ञासा नियमतः होती हो तथा जिसके न होने पर ब्रह्मजिज्ञासा न होती हो।कर्मविचार इस नियम का पालन नहीं करता है क्योंकि उसके बिना भी ब्रह्मजिज्ञासा सम्भव है। वह व्यक्ति जिसका चित्त जन्मान्तरों से अर्जित पुण्यों के कारण निर्मल हो गया है तथा जो दुःखत्रय से अत्यन्त संतप्त होकर संसार से उदासीन हो गया है, उसे केवल वेदान्त(उपनिषद्) के अध्ययन से ही ब्रह्मजिज्ञासा हो जाती है।

आचार्य रामानुज इस पर आक्षेप करते हुए कहते हैं कि अद्वैतवेदान्त दर्शन में उद्गीथविद्या पर विचार किया जाता है और यह विद्या कर्मांग को विषय करती है अतः बिना कर्मज्ञान किये हुए उद्गीथ आदि उपासनाओं का विचार नहीं हो सकता है।ध्यातव्य है कि उद्गीथ विद्या का अर्थ प्रणव की उपासना है जैसा कि श्रुतिवचन है – 'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासते' ।उपासना एक क्रिया है जिसमें कर्म की प्रधानता होती है अतः अद्वैती के लिए भी वेदान्तार्थ विचार से पूर्व कर्म का विचार करना आवश्यक ही है।

इस आक्षेप का उत्तर देते हुए अद्वैत का कथन है कि अद्वैतशास्त्र का प्रतिपाद्य विषय है- आत्मैकत्वविज्ञान अर्थात् जीव-ब्रह्म की एकता(अभेद)। दुःखत्रय से पीड़ित जीवों के समस्त दुःखों के मूलकारण मिथ्याज्ञान को निवृत्त करने के लिए इस अभेदज्ञान का प्रतिपादन किया जाता है।कर्मज्ञान की विशेषता यह है कि वह भेदपूर्वक प्रवृत्त होता है। क्रिया, कर्म, कर्त्ता आदि के भेदों को जाने बिना कर्मविचार प्रवृत्त नहीं होता है। अभेदपूर्वक प्रवृत्त होने वाले वेदान्तशास्त्र का भेदपूर्वक प्रवृत्त होने वाले कर्म से सुस्पष्ठ विरोध है इसलिए ब्रह्मज्ञान में कर्मविचार का कोई उपयोग नहीं है। उद्गीथ आदि उपासनाएं ज्ञानस्वरूप होती हैं अतः बुद्धिस्थ होने के कारण वेदान्तार्थ विचार में उनकी प्रसंगता संगति स्वीकार्य है किन्तु वे ब्रह्मविचार में साक्षात् संगत नहीं हैं।

भेदाभेदवादी आचार्य भास्कर के अनुयायियों का मत है कि श्रुतियों में कर्मसहकृतज्ञान (ज्ञानकर्मसमुच्चय) से मुक्ति का विधान किया गया है, यथा-

विद्यां चाविद्याञ्च यस्तद्वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते॥ (ईशा. 9)

यह श्रुति बतलाती है कि कर्मसहकृतज्ञान से ही अमृतत्व की प्राप्ति होती है। इसी तरह 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन' यह बृहदारण्यक श्रुति ब्रह्मज्ञान हेतु यज्ञ, दान, तपस्या तथा उपवास आदि कर्मों का विधान करती है।भेदाभेद का मत है कि कर्मज्ञान न होने पर यह ज्ञानकर्मसमुच्चय सम्भव ही नहीं है अतः कर्मविचार को ब्रह्मजिज्ञासा का पूर्ववृत्त मानना चाहिए।

इस पर अद्वैत का उत्तर है कि श्रुतियों के अनुसार मुक्ति के लिए समस्त भेदों से रहित तथा चिन्मात्र अद्वय ब्रह्म का ज्ञान अपेक्षित है क्योंकि उसी के ज्ञान से अविद्या की निवृत्ति होती है और अविद्यानिवृत्ति ही मोक्ष है।कर्मज्ञान में वर्णभेद, आश्रमभेद तथा साध्य-साधन-

इतिकर्तव्यता आदि अनेक भेद होते हैं अतः भेदबहुल कर्म से भेदनिवृत्तिरूप अज्ञाननिवृत्ति सम्भव नहीं है ।इसके अतिरिक्त श्रुतियों में कर्मफल को अनित्य तथा कर्म को मोक्षविरोधी कहा गया है, यथा- 'अन्तवदेवास्य भवति'(बृह. 3.8.10), 'तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते' (छा. 8.6.1) इत्यादि ।यज्ञादि कर्मों का उपयोग विविदषा (इच्छा) की उत्पत्ति में होता है, ज्ञान में उनका साक्षात् उपयोग नहीं है ।'तत्वमसि' 'अयमात्मा ब्रह्म' इत्यादि वाक्यों से उत्पन्न ज्ञान से ही अविद्या की निवृत्ति होती है ।इन वाक्यों के अर्थज्ञान में श्रवण, मनन और निदिध्यासन की उपयोगिता होती है ।श्रवण आदि साधनों के द्वारा जिनकी समस्त भेदवासना निवृत्त हो जाती है, उसकी ही अविद्या को वाक्यार्थज्ञान नष्ट करता है। अतएव इस प्रकार के श्रवण आदि के लिए जो अपेक्षित हो उसी को वेदान्तार्थ विचार का पूर्ववृत्त कहना चाहिए और वह है – नित्यानित्यवस्तुविवेक, इहामुत्रार्थफलभोगविराग, शमादिषटकसम्पत्ति और मुमुक्षुत्व ।चूँकि इन साधनचतुष्टय के बिना ब्रह्मजिज्ञासा नहीं हो सकती है अतएव यही ब्रह्मजिज्ञासा का पूर्ववृत्त हैं।

8.2.9 कर्म ज्ञान का अंग है

आचार्य का कथन है कि यह सत्य सिद्धान्त है कि अज्ञान की निवृत्ति ही मोक्ष है तथा यह अज्ञाननिवृत्ति वेदान्त वाक्यों से बोधित होने वाले ब्रह्मज्ञान से होती है ।प्रश्न यह है कि अज्ञान की निवृत्ति के लिए वेदान्तवाक्य जिस प्रकार के ज्ञान का विधान करते हैं उसका स्वरूप क्या है ? इस सम्बन्ध में दो विकल्प हैं- (i)क्या वह ज्ञान वाक्य से उत्पन्न होने वाला वाक्यार्थज्ञानमात्र है अथवा

(ii)वाक्यार्थज्ञानमूलक उपासनात्मक ज्ञान है ?

अद्वैत प्रथम विकल्प को स्वीकार करता है जबकि विशिष्टाद्वैत द्वितीय विकल्प को मानता है ।आचार्य रामानुज का कथन है कि उस ज्ञान को वाक्यजन्य मात्र नहीं माना जा सकता, क्योंकिविधान किये बिना भी वाक्यमात्र से उसज्ञान की प्राप्ति होती है। और देखा भी जाता है कि वाक्यार्थज्ञानमात्र से अविद्या की निवृत्ति नहीं होती है। पुनः आचार्य कहते हैं कि अद्वैती विद्वान यह नहीं कह सकते कि जब तक भेद की वासना निरस्त नहीं हो जाती, तबतक तत्वमसि इत्यादि वाक्य अविद्या को निवर्तित करने वाले ज्ञान को नहीं उत्पन्न करते हैं। यदि वह ज्ञान उत्पन्न भी हो जाय तो भी उत्पन्न होते ही सब के भेदज्ञान की निवृत्ति का न होना कोई दोष नहीं है। आचार्य उदाहरण देते हैं कि - लोक में भी देखा जाता है कि जिसको इस बात का ज्ञान हो जाता है कि चन्द्रमा एक ही है उस काचकामलादि दोष के कारण दूषित नेत्र वाले व्यक्ति को होने वाली दो चन्द्र की प्रतीति की निवृत्ति नहीं होती है। इसी तरह मूलभूत अविद्या की निवृत्ति हो जाने पर भी भेद दर्शन की निवृत्ति नहीं होती है, वह अपने मूलकारण अविद्या के विनष्ट हो जाने के कारण बन्धनकारक नहीं होता है। इसका खण्डन करते हुए आचार्य कहते हैं कि अद्वैती विद्वानों का इस प्रकार का कथन उचित नहीं है क्योंकि ज्ञानोत्पत्ति की सामग्री रहे और ज्ञानोत्पत्ति ना हो यह कथमपि सम्भव नहीं है। लोक में भी देखा जाता है कि अन्धकार के कारण रस्सी में सर्प की प्रतीति होते रहना रूपी विपरीत वासना के रहने पर भी आप्तोदेश - (प्रामाणिक पुरुष के उपदेश) आदि साधनों के द्वारा सर्पत्व आदि के बाधक ज्ञान की उत्पत्ति देखी जाती है।

पुन: आचार्य कहते हैं कि अद्वैतियों के द्वारा यह भी नहीं कहा जा सकता है कि 'तत्वमसि' आदि वाक्यों का अर्थज्ञान रहने पर भी केवल अनादि काल से प्रवृत भेद की वासना के कारण भेद (ज्ञाता, ज्ञेय, ज्ञान) रूपी ज्ञान की अनुवृत्ति होती रहती है। क्योंकि भेदज्ञान की सामग्रीवासना भी

ब्रह्म से व्यतिरिक्त होने के कारण मिथ्या है। अतएव ज्ञान के उत्पन्न होते ही जिस तरह अविद्यानिवृत्ति हो जाती है उसी तरह उसकी भी निवृत्ति हो जायेगी। इसके अज्ञान के उपर्युक्त विधि से निवृत्ति न होने पर आचार्य कहते हैं कि फिर उस मिथ्याज्ञानवासना की निवृत्ति करने वाला अन्य कोई साधन विद्यमान ही नहीं है। आचार्य स्पष्ट करते हैं कि- यदि यह कहें कि ज्ञान के उत्पन्न हो जाने पर भी मिथ्या भेदवासना तो विनष्ट हो जाती है, किन्तु उसका भेद प्रतीति रूपी कार्य अनुवर्तित होते रहता है, तो यह कहना मात्र बालिशभाषित है। अर्थात् बिना कारण के कार्योत्पत्ति के समान है। दो चंद्रमा के प्रतीतिस्थल में तो उसके बाधक ज्ञान (एक चन्द्रप्रतीति)रहने पर भी द्विचन्द्रप्रतीति इसलिए होती रहती है कि उस द्विचन्द्र प्रतीतिरुपी मिथ्याज्ञान का कारण तिमिरादिदोष मिथ्या नहीं अपितु सत्य या यथार्थज्ञान है। अतएव चन्द्रमा के एकत्व ज्ञान के द्वारा वह बाध्य नहीं है। उसमिथ्याज्ञान के हेतु के विनष्ट न होने के कारण द्विचन्द्रप्रतीतिरुपी मिथ्याज्ञानकी अनुवृत्ति होती रहती है और ऐसा होने से कोई विरोध भी नहीं है क्योंकि जब तक उसके कारणभूत तिमिरादिदोष नहीं विनष्ट होंगे तब तक द्विचन्द्रप्रतीति समाप्त नही होगी, रज्जु सर्पादिस्थल में तो प्रबल प्रमाण के द्वारा सर्प प्रतीतिजन्य भय आदि कार्य की निवृत्ति हो ही जाती है । किञ्च भेदवासना के विनष्ट हो जाने पर ही तत्त्वमसि आदिवेदान्तवाक्यों से परमार्थज्ञान की उत्पत्ति होती है। ऐसा मानने वालों के मत में ज्ञान की उत्पत्ति कभी भी नहीं हो सकती है क्योंकि भेद की वासना अनादि काल से बढ़ी हुई है फलतः असीमित है और उसकी विरोधिनी अभेद की भावना अल्प है, अतएव उस अल्प अभेद की भावना की अपरिमित भेद वासना का बाध नहीं हो सकता है।

भाष्यकार कहते हैं कि वाक्यार्थज्ञानमात्र अविद्या का निवर्तक नहीं हो सकता अपितु ध्यान, उपासनाआदि शब्दों से कहा जाने वाला ज्ञान ही मुक्ति का साधन है। इसी तात्पर्यार्थ से आचार्य कहते हैं कि चूंकि वाक्यार्थज्ञान वेदान्तवाक्यविधेय नहीं हैं, अतः वह अविद्या का निवर्तक नहीं हो सकता, यह मूल (सूत्र) के अतः शब्द का अभिप्राय है। इसलिए वाक्यार्थज्ञान से भिन्न ही ज्ञान का वेदान्तवाक्यविधान करते हैं, उसे ही ध्यान तथा उपासना शब्द से कहा जाता है। श्रुतियाँ भी यही कहती हैं कि 'विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत'अर्थात् मुमुक्षु पुरुष को चाहिए कि वह श्रवण तथा मनन के द्वारा अच्छी तरह जानकर ही उस परब्रह्म का ध्यान करे । 'अनुविद्य विजानाति'अर्थात् सदाचार्य की सन्निधि में श्रवण के द्वारा वाक्यार्थज्ञान को प्राप्तकरके उसके पश्चात् मुमुक्षु, अधिकारी मनन एवं निदिध्यासन करता है। इसी तात्पर्यार्थ को प्रकट करने वाले अनेक वेदान्तवाक्यों कोप्रमाण स्वरूप प्रकट करते हैं, यथा-

i) निच्चाय तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते। (कठो०)

ii) आत्मानमेव लोकमुपासीत(बृहदा०)

iii) आत्मा वाऽरेद्रष्टव्यः श्रोतव्योमन्तव्योनिदिध्यासितव्यः (बृहदा०)

iv) सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः (छान्दो०) आदि।

इन सभी वाक्यों में निदिध्यासितव्यः इत्यादि के साथ प्रतिपाद्य अर्थ की समानता होने के कारण 'अनुविद्य विजानाति','विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत' इत्यादि वाक्यों के द्वारा 'अनुविद्य, विज्ञाय' आदि पदोंसे ध्यान के लिए उपकारक वाक्यार्थज्ञान का अनुवाद करकेश्रुति 'प्रज्ञां कुर्वीत विजानाति'इत्यादि पदों से ध्यान का विधान करती है।जिसने साङ्गसशिरस्क वेदाध्ययन कर लिया है उसके लिए रागप्राप्त होने के कारण श्रुति श्रोतव्य पद के द्वारा श्रवण का अनुवाद करती है। वेद किसी न किसी विषय का प्रतिपादन करते हैं, अतएव जिस पुरुष ने वेदाङ्गों तथा

उपनिषदों के साथ वेद का अध्ययन सम्पन्न कर लिया है, वह स्वर्गादि प्राप्ति रूपप्रयोजन से युक्त अश्वमेध, ज्योतिष्टोमादि अर्थों के बोधक उन वाक्यों का ज्ञान प्राप्त करके उनके अर्थ का निर्णय करने के लिए स्वयमेव (रागता प्राप्त) श्रवण में प्रवृत्त हो जाता है। चूंकि श्रवण रागता प्राप्त हैं अतएव उसका श्रोतव्यः पद से श्रुति अनुवाद करती है। आचार्य की सन्निधि में श्रुत अर्थ को मन में प्रतिष्ठित (स्थिर) करने के लिए तर्क एवं प्रमाणों के आलोक में उपर्युक्त अर्थ का चिन्तन एवं मनन भी रागतः प्राप्त है। अतएव उसका श्रोतव्यः पद से श्रुति अनुवाद करती है।

'निदिध्यासितव्य:' पद के द्वारा श्रुति ध्यान का ही विधान करती है क्योंकि जिस अर्थ की रागतः प्राप्ति नहीं होती उसी का विधान किया जाता है। इसीलिए सूत्रकार ने आगे कहा भी है 'अवृत्तिरसकृदुपदेशात्'अर्थात मोक्ष के साधन रूप से जिसका श्रुति विधान करती है उस ब्रह्म का ध्यान निरन्तर बार-बार करते रहना चाहिए क्योंकि मोक्ष के साधन का उपदेश जिन वाक्यों में किया गया है, उन वाक्यों में विद् धातु का प्रयोग ध्यान के पर्याय के रूप में ही किया गया है।

श्रीमद्रामानुज ने वेदान्तश्रुतियों से यह सिद्ध किया है कि विद् तथा उपास् ये दोनों धातुएँ जो वेदान्तों में प्रयुक्त होती हैं, ये दोनों पर्याय हैं अर्थात् समान अर्थ को द्योतित करती हैं। इनका प्रयोग वेदान्तों में उपासना या वेदन के अर्थ में होता है। आचार्य कहते हैं कि वेदान्तवाक्यों के द्वारा जिस वेदन(ज्ञान) का विधान किया गया है वह उपासनात्मक है और वही मोक्षप्राप्ति का साधन है। श्रुतियों में देखा जाता है कि विद् धातु तथा उपास धातु दोनों को परस्पर एक दूसरे के बदले में प्रयोग किया जाता है। अतएव जो वेदन है वही उपासना है और जो उपासना है वहीं वेदन है, ऐसा सिद्ध होता है। 'वेदान्त विहित वेदन ध्यानोपासनात्मक है' इस तथ्य के प्रमाणीकरण हेतु आचार्य अनेक श्रुतियों को प्रस्तुत करते हैं-

i) 'मनो ब्रह्मेत्युपासीत' (छा० उप०)अर्थात् मनरूपी अभ्यन्तरेन्द्रिय की ब्रह्मात्मक रूप से उपासना करें।

ii) 'भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेनय एवं वेद'। (छा० उप०)यहाँ पर 'भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद इस श्रुति में उपास धातु के बदले में, विद धातु के वेद पद का प्रयोग श्रुति ने किया है।

iii) 'न स वेद अकृत्स्नो ह्योष आत्मेत्येवोपासीता' (तै.उप.) इस श्रुति में विद् धातु से उपक्रम करके उपास् धातु से उपसंहार किया गया है।

iv) 'यस्तद्वेद, यत् स वेद, स. मयैतदुक्तः। (छा० उप०) यहाँ पर विद् धातु से उपक्रम किया गया है, और इसका उपसंहार अगले श्रुतिवाक्य

v) 'अनु म एतां भगवो देवतां शाधि यां देवतामुपास्से'। (छा० उप०)

यहाँ पर उपास धातु से पूर्वोक्त का उपसंहार किया गया है। इस तरह से सिद्ध होता है कि श्रुतियों को मोक्ष के साधनरूप में विहित वेदन उपासनात्मक रूप से ही अभिप्रेत है।

8.2.10 ध्यान एवं ध्रुवानुस्मृति

विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के अनुसार ध्यान या उपासना ही मुक्ति का साधन बनती है। ध्यान का स्वरूप निरुपण करते हुए आचार्य कहते हैं कि 'ध्येय तत्व के चिन्तन की ऐसी धारा को ध्यान कहते हैंजो अविच्छिन्नतः चलती रहती है'। जब कोई साधक अपने उपास्य का चिन्तन करता है और वह चिन्तन यदि व्यवधानशून्य हो अर्थात् उस चिन्तनधारा में किसी विजातीय प्रत्यय

की अनुभूति नहीं होती है, तो उसे ही ध्यान कहा जाता है। ध्यान करने वाले व्यक्ति के मन में ध्येयतत्त्व से व्यतिरिक्त किसी भी दूसरी वस्तु की स्मृति नहीं होती हैं। वह चिन्तन की धारा तेल की धारा के समान होती है, जिसतरह तेल की धारा निश्छिद्र होती है उसी तरह वह चिन्तन की धारा कहीं टूटती नहीं है।

श्रुति ऐसे ध्यान को कहती है- 'ध्रुवानुस्मृति' अर्थात वह ध्यान ध्रुवानुस्मृतिहै।'ध्रुवास्मृति। स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः।' अर्थात् ध्रुवास्मृति ही मोक्ष लाभ का साधन है। इस स्मृति का आकार दर्शन के समान होता है। लोक में भी देखा जाता है कि जब स्मृति अपने प्रकृष्ठावस्था में पहुँच जाती है तो ऐसा प्रतीत होता है कि- 'ध्येय' तत्व आँखों के सामने दिख रहा है।इन सभी बातों का वाक्यकार आचार्य ब्रह्मानन्द ने अपने छान्दोग्यवाक्य ग्रन्थ में विस्तार के साथ वर्णन किया है ।वे कहते हैं कि'वेदमनुपासनस्यात् तद्विषये श्रवणात् । (ब्रह्मानन्दि वाक्यग्रन्थ) अर्थात् वेदान्त विहित वेदन (ज्ञान) उपासनारूप ही है क्योंकि उसका उपासना के स्थान में अनेक जगह प्रयोग देखा जाता है। इस वाक्य के द्वारा वाक्यकार ने इस अर्थ का प्रतिपादन किया है कि सभी उपनिषदों में जिसका मोक्ष के साधन रूप में विधानकिया गया है, वह वेदन उपासना ही है। उन्होंने पुनः 'सकृत्प्रत्ययं कुर्यात् शब्दार्थस्य कृतत्वात् प्रयाजादिवत्' इस वाक्य के द्वारा पूर्व पक्ष को उपन्यस्त किया है जिसका तात्पर्य है कि एक बार उपासना करनी चाहिए क्योंकि उतने मात्र से ही विधि के विषयभूत धातु के अर्थ का अनुष्ठान पूरा हो जाता है। इस पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए वाक्यकार में कहा 'सिद्धं तूपासनशब्दात् ।' अर्थात् वेदान्तविहित वेदन उपासना ही है, यह अर्थ सिद्ध है।

'उपासन्' शब्द का पुनः निर्णय करते हुए वाक्यकार ने कहा है कि -'उपासनं स्यात् ध्रुवानुस्मृतिदर्शनान्निर्वचनाच्च' । अर्थात् विद्याप्राप्ति पर्यन्त बार-बार की जाने वाली उपासना ही वेदान्तवाक्यविहित वेदन है। इस वाक्य ग्रन्थ का अर्थ यह है कि - ध्रुवानुस्मृति को ही उपासना कहा गया है। क्योंकि ऐसा लोक में देखा जाता है तथा श्रुतियाँ उसका इस प्रकार से निर्वचन करती है अत: वाक्यकार ने ऐसा वर्णन किया है कि मुक्ति के साधन रूप से अभिप्रेत जो उपासनारूप वेदन है तथा जिसका आजीवन बार-बार आवर्तन किया जाता है, उसी को ध्रुवानुस्मृति कहते हैं।

भाष्यकार मोक्ष के साधनभूत इस पूर्वकथित ध्रुवानुस्मृति की विशेषता बतलाते हुए श्रुतिबद्ध करते हैं कि सामान्य विशेष न्याय के द्वारा जिस स्मृति ने प्रत्यक्षतापत्ति को प्राप्त कर लिया है अर्थात् संस्कार के अतिशयाधान के द्वारा जो स्मृति अत्यन्त विशद बन गयी है, वही ध्रुवानुस्मृति है। इस स्मृति की विशेषता को श्रुति स्वयं कहती है –

नायमात्माप्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः तस्यैष आत्मा वृणुते तनूं स्वाम् ।। (मु.उप.)

यह श्रुति श्रवण मनन तथा निदिध्यासन को बतलाकर यह कहती है कि ये आत्मा-परमात्मा के ज्ञान के साधन नहीं हैं। यह श्रुति कहती है कि यह आत्मा (परमात्मा) जिसको स्वयं अपना लेता है उसी को प्राप्त होता है। जो प्रियतम होता है वही वरण करने के योग्य होता है। जिस मुमुक्षु अधिकारी को यह आत्मा (परमात्मा) नि:सीम रूप से प्रिय होता है वही अधिकारी इस परमात्मा का प्रियतम होता है। जब कोई साधक भगवान् को ही अपना सर्वाधिक प्रिय अर्थात् प्रियतम मान लेता है तो ऐसे भक्त की परमात्मप्राप्ति को भगवान् स्वयं सम्पन्न करते हैं । भगवद्गीता में भगवान् कृष्ण ने स्वयं कहा है-

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ।।

अतएव साक्षात्कार के समान आकार वाली स्मृतिस्मरण किये जाने वाले परमात्मा को अत्यन्त प्रिय होने के कारण जिसको अत्यंत प्रिय होती है वही (अधिकारी) परमात्मा के द्वारा वरण किये जाने के योग्य होता हैअर्थात् उसी के द्वारा परमात्मा प्राप्त किये जाते हैं। इस तरह की ध्रुवानुस्मृति ही भक्ति शब्दाभिधेय है, क्योंकि भक्ति शब्द उपासना शब्द का पर्याय है।

वेदान्तवाक्य जिस वेदन को मोक्ष का साधन बतलाते हैं, वह वेदन भक्ति स्वरूप उपासना ही है, इसीलिए श्रुतियाँ तथा स्मृतियाँ भी इसी अर्थ का प्रतिपादन करती हैं कि भक्ति के अतिरिक्त कोई दूसरा मुक्ति का साधन नहीं है। भक्ति ही मुक्ति का एकमात्र साधन है। वह भक्ति ही उपासना,ध्यान,ध्रुवानुस्मृति इत्यादि शब्दों से कही जाती है। श्रुतियों एवं स्मृतियों में इस तथ्य का प्रतिपादन किया गया है –

'तमेवं विद्वानमृत इह भवति नान्यः पन्थाअयनाय विद्यते'। (तैत्तिरीय उप.)
'तमेवं विदित्वाऽतिमृत्युमेतिः'। (श्वेता. उप.)

इनमें प्रथम का तात्पर्य है - उस परम पुरुष परमात्मा को इस प्रकार से जानकर अर्थात् उस परमात्मा की उपासना के द्वारा साक्षात्कार करके मुमुक्षु उपासक संसारभय को पार कर जाता है। तथा द्वित्तीय का तात्पर्य है कि उस परमपुरुष को दर्शन समानाकार ध्रुवानुस्मृति के द्वारा जानकर उपासक संसार के जन्म-मरण रूपी भयङ्कर भय से मुक्त हो जाता है।

स्मृति में भी यही बात कही गयी है-

न हि वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्यं एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसिमां यथा। (भ.गी.)

अर्थात् हे अर्जुन तुमने जिस प्रकार से मेरा साक्षात्कार किया है उस प्रकार से मेरा साक्षात्कार न तो वेदाध्ययन से किया जा सकता है न तो ध्यान के द्वारा किया जा सकता है और न तो यज्ञों को करके किया जा सकता है।

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया। (भ.गी.)

अर्थात्- हे अर्जुन! वह परम् पुरुष अनन्या भक्ति से ही प्राप्त हो सकता है।

इस प्रकार इन श्रुतस्मार्त वाक्यों से प्रमाणित होता है कि दर्शन के सदृश आकार वाली ध्रुवानुस्मृति ही भक्ति शब्द से वाच्य है।

भाष्यकार मोक्ष के साधनभूत भक्ति का पूर्वाङ्ग कर्म ही है ऐसा किञ्च श्रुतियों से स्थापित करने का उपक्रम करते हुए कहते हैं किजो ध्रुवानुस्मृति दर्शनसमानाकार वाली है अर्थात् जिस ध्रुवानुस्मृति काल में लगता है कि ध्येय परमात्मा मानो आँखों के सामने ही है। उस ध्रुवानुस्मृति के ही साधन यज्ञादि कर्म हैं। ''यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्'' इस सूत्र के भाष्य में इस तथ्य को स्पष्ट किया गया है। यद्यपि विविदिषन्ति श्रुति के अनुसार यज्ञादि कर्मों का विनियोग विविदिषा में ही होता हैफिर भी वह ध्यान रूप है। इस ध्रुवानुस्मृति का विद्याप्राप्ति पर्यन्त प्रतिदिन अनुष्ठान किया जाता है। ऐसे अभ्यास के द्वारा जिसमें भावना के प्रकर्ष का आधान किया जाता है तथा जिसका जीवनपर्यन्त अभ्यास किया जाता है, वह उपासनात्मकज्ञान(भक्ति, ध्यान) ही ब्रह्म प्राप्ति का साधन है। उसी वेदन की उत्पत्ति के लिए आश्रमों में विहित कर्मों का आजीवन अनुष्ठान किया

जाता है। निष्कर्षतः स्पष्ट होता है कि कर्म ही मोक्ष के साधनभूत भक्ति का पूर्वाङ्ग है।

8.2.11 ध्रुवानुस्मृति के साधन

विशिष्टाद्वैत मतानुसार विवेक आदि सात प्रकार के साधनों से ही ध्रुवानुस्मृति की उत्पत्ति होती है ।स्वमत को पुष्ट करने हेतु आचार्य रामानुज ने छान्दोग्योपनिषद् पर वाक्य ग्रन्थ के लेखक आचार्य ब्रह्मानन्दि के ग्रन्थ का उद्धरण प्रस्तुत किया है ।वाक्यकार के अनुसार कि विवेक आदि सप्तसाधनों से ही ध्रुवानुस्मृति की उत्पत्ति होती है। वे कहते हैं कि उस ध्रुवानुस्मृति की प्राप्ति विवेक, विमोक, अभ्यास, क्रिया, कल्याण, अनवसाद तथा अनुद्धर्ष से होती है। (i) **विवेक:** आचार्य के अनुसार **'जात्याश्रयनिमित्तादुष्टादन्नात् कायशुद्धिः विवेकः'** अर्थात् जातिदोष, आश्रयदोष तथा निमित्तदोष से रहित भोजन के द्वारा शरीर की शुद्धि करने को विवेक कहते हैं।छा० उपनिषद का भी कथन है'आहारशुद्धौ सत्वशुद्धिः सत्वशुद्धौ ध्रुवानुस्मृतिः' अर्थात् आहार की शुद्धि होने पर अन्तःकरण की शुद्धि होती हैऔर अंतःकरण की शुद्धि होने पर ध्रुवानुस्मृति होती है।

ii) **विमोक:** कामनाओं के अनभिष्वङ्ग को विमोक कहते हैं। यथावाक्यकार कहते है- **'विमोक: कामानभिष्वङ्गः'**। प्राणियों की विषयों में जो आसक्ति होती है जिसके कारण वह बार-बार उन विषयों को प्राप्त करना चाहता है, उस प्रवृत्ति को अभिष्वङ्ग कहते हैं। ऐसी प्रवृत्ति का न होना अर्थात् विषयों में अनासक्ति भाव को ही अनभिष्वङ्ग कहा जाता है तथा यही विमोक है।'छान्दोग्य उप०'कहता है- 'शान्त उपासीत्।'

iii) **अभ्यास:**योग के आश्रय (शुभाश्रय) परमात्मा का चिन्तन करते रहने कोही अभ्यास कहते हैं। वाक्यकार के अनुसार **'आरम्बणसंशीलनं पुनरपुनरभ्यास:'** अर्थात् ध्येय तत्त्व के विषय में पुनः पुनः चिन्तन करना अर्थात् उन्हें अपने ध्यान का विषय बनाना ही अभ्यास है।इसमें प्रमाण है-'सदा तद्भावभावितः' (भगवद्गीता)।

(iv) **क्रिया:** क्रिया का लक्षण है –**'पञ्चमहायज्ञाद्यनुष्ठानं शक्तित: क्रिया'** अर्थात् अपनी शक्ति के अनुसार पञ्चमहायज्ञ तथा आश्रम आदि कर्मों का अनुष्ठान करने को ही क्रिया कहते हैं। पञ्चमहायज्ञ हैं- ब्रह्मयज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ एवं नृयज्ञ ।उपासक को इन क्रियाओं का सतत अनुष्ठान करते रहना चाहिए क्योंकि क्रियावान् साधक ही परमतत्त्व को प्राप्त कर पाता है।इसमें प्रमाणहै 'क्रियावानेषब्रह्मविदां वरिष्ठः ।' वाक्यकार पुनः एक वाक्य को प्रमाणरूप से प्रस्तुत करते हैं कि 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्रह्मणाविविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसानासकेन' । (बृह.उप.) अर्थात्वेदज्ञ महापुरुष वेदवाक्यों के आलोक में उस परमपुरुष को यज्ञ, दान, तपस्या तथा उपवास रूपी साधनों के द्वारा जानना चाहते हैं।

v) **कल्याण:**सत्य, ऋजुता, दया, दान, अहिंसा तथा लोभराहित्य इन छः को भाष्यकार कल्याण के रूप में बतलाते हैं। 'सत्येन लभ्यः' तथा 'तेषमेवैष विरजो ब्रह्मलोकः'इत्यादि उपनिषद् वाक्यसत्यादि साधनों की आवश्यकता को प्रतिपादित करते हैं।

vi) **अनवसाद:** देश तथा काल की विपरीतताके कारण शोक के कारणभूत वस्तु के स्मरण करने से उत्पन्न दीनता रूपी मन कीजो मलीनता है, उसी को अवसाद कहते हैं।इस अवसाद के विपरीत अनवसाद होता है। जीवन में विपरीत परिस्थितियों के उत्पन्न होने पर भी जब साधक का चित्त उनसे मलिन नहीं होता है तो उसे ही अनवसाद कहा जाता

है । इसमें प्रमाण 'नायमात्मा बलहीनेनलभ्यः।' यह (मु.उप.) श्रुति है। बलहीन का अर्थ यहाँ पर मनोबल रहित है।

vii) **अनुद्धर्षः**देश और काल की अनुकूलता के कारण प्रिय वस्तु केस्मरण के कारण होने वाले सन्तोष को उद्धर्ष कहते हैं तथा इसके विपरीत अनुद्धर्ष होता है। जीवन में हर्ष एवं प्रसन्नता की परिस्थितियों के उत्पन्न होने पर भी जब साधक का चित्त उनसे प्रभावित नहीं होता है तो उसे ही अनुद्धर्ष कहा जाता है । भाष्यकार का अभिमत है कि अत्यन्त सन्तोष भी उपासना के लिए विरोधी है। इसमें 'शान्तो दान्तः' यह श्रुति प्रमाणस्वरूप है।

8.2.12 ब्रह्मविचार की कर्मविचार सापेक्षता

श्रीभाष्यकार ने सर्वप्रथम इस तथ्य का प्रतिपादन किया है कि आश्रमों के लिए विहित कर्म विद्या प्राप्ति के अनुकूल हैं। अतएव विद्या का पूर्ववृत्त कर्म- विचार को स्वीकार करना चाहिए। किञ्च वेदान्त वाक्य जिस वेदन को मोक्षप्राप्ति का साधन बतलाते हैं वह ध्यानोपासन आदि शब्दों से कही जाने वाली ध्रुवानुस्मृति ही है; उसी से मुक्ति की प्राप्ति होती है। इसके पश्चात् श्री भाष्यकार ने वाक्यकार के वाक्यों के आलोक में ध्रुवानुस्मृति की व्याख्या की है कि विमोक आदि नियमों का जो मुमुक्षु अधिकारी पालन करता हैउसको विद्या की प्राप्ति अपने वर्ण तथा आश्रम के लिए शास्त्रविहित कर्मों के अनुष्ठान से ही होती हैं। तदर्थ उसे शम, दम आदि का पालन करते हुए अपने आश्रम के लिए विहित कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिए ।विद्या की प्राप्ति न तो केवल शम दमादि से होती है, और न तो केवल कर्मो के अनुष्ठान से, अपितु मुमुक्षु साधक को दोनों का अनुष्ठान विद्या की प्राप्ति हेतु करना चाहिए। इसी अर्थ के स्पष्टीकरण हेतु भाष्यकार कहते हैं कि 'नियमयुक्तस्य' तथा 'आश्रमविहितकर्मानुष्ठानेन' अर्थात् शमदमादि तथा कर्म दोनों मिलकर ही विद्या का अङ्ग होते हैं। अत: अद्वैती विद्वान् जिसे विविदिषा का साधन बतलाते हैं वे यज्ञादि कर्म ही विद्या (ध्रुवानुस्मृति) के साधन है। श्रीभाष्यकार श्रुतिप्रमाण देते हैं –

विद्यां चाविद्यां यस्तद्वेदोभयं सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वाविद्ययाऽमृतमश्नुते । (ईशा.)

तत्पश्चात् 'अत्राविद्याशब्दाभिहितम्' इत्यादि के द्वारा तथा उपर्युक्त श्रुति में आए हुए अविद्या शब्द का वर्णन करते है कि- तत्- तत् वर्णो तथा तत्-तत आश्रमों के लिए शास्त्रों द्वारा विहित कर्म बतलाये गये हैं। श्रुति के उत्तरार्द्ध का अर्थ करते हुए श्री भाष्यकार कहते हैं कि 'अविद्यया'अर्थात् आश्रमविहित कर्म के द्वारा, मृत्युअर्थात् ज्ञानकी उत्पत्ति के विरोधी पूर्व जन्मार्जित पुण्य- पाप रूपी कर्मों को, तीर्त्वा = विनष्ट करके, विद्यया अर्थात् ध्यानोपासन शब्द वाच्य ज्ञान के द्वारा मुमुक्षु उपासक, अमृत- ब्रह्म को अश्नुते - प्राप्त कर लेता है।

पुन: आचार्य कहते हैं कि यह पाप शब्दभिधेय पुण्य- पाप रूप कर्म चूंकि ज्ञानोत्पत्ति के साधन शुद्ध सत्व के विरोधी हैं एवं रजोगुणव तमोगुण को बढ़ाने का काम करते हैं। अतएव ये ज्ञान के विरोधी हैं। पाप शब्दाभिधेय प्राचीन पुण्य-पाप कर्म ज्ञानोत्पत्ति के विरोधी हैं। यहबात अग्रलिखित श्रुति से प्रमाणित होती है। वह श्रुति है, 'एष एवासाधुकर्म कारयति तं यमधोनिनीषति ।' (कौषी०) अर्थात्- यह परमात्मा ही जिसको नीचे ले जाना चाहता है, उससे पापकर्म करवाता है।

आचार्य ज्ञान ढकने की स्थिति तथा ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति को स्पष्ट करते हैं कि रजोगुण एवं तमोगुण यथार्थज्ञान को ढक देते हैं। सत्वगुण, यथार्थज्ञान का कारण है। इस बात को श्री भगवान्

ने ही 'सत्वात् सञ्जायते ज्ञानम् । (भ.गी०), इत्यादि श्लोक में कहा है जिसका अर्थ है सत्वगुण से ज्ञानोत्पत्ति होती है। अतएव ब्रह्मज्ञानोत्पत्ति के लिए पुण्य-पाप रूप (पूर्व जन्मार्जित) पापकर्म को विनष्ट ही करना चाहिए ।उस पाप का विनाश फलाभिसन्धि से रहित होकर धर्मों (आश्रमों के लिए विहित कर्मों) के अनुष्ठान से ही होता है। श्रुति भी इस बात को प्रमाणित करती है कि 'धर्मेणपापमपनुदति'(तै.आर.) अर्थात् उपासक स्ववर्णाश्रमोचित कर्मों का अनुष्ठान करके ब्रह्मविद्या के उत्पत्ति के विरोधी प्राचीन पुण्य तथा पाप रूप कर्मों का अपनोदन करता है।

श्रीमद्रामानुजाचार्य ने ब्रह्मविचार, कर्म विचार सापेक्ष है, इस सिद्धान्त को अनेक श्रौतस्मार्तवाक्यों से सिद्ध करते हुए इस विषय में प्रचलित अनेक मतवादों एवं संदेहों का निराकरण किया है। भाष्यकार ब्रह्मविचार की कर्मविचार सापेक्षता का उपसंहार करते हुए कहते हैं किब्रह्म की प्राप्ति का साधनभूत ज्ञान, समस्त आश्रम कर्मों की अपेक्षा रखता है। इस तथ्य को श्रुतियाँ, स्मृतियाँ, उनके अनुग्राहक तर्क, सूत्रकार (महर्षिबादरायण) तथा वाक्यकार ने अनेकश: प्रतिपादित किया है।

अपेक्षित कर्म के स्वरूप का ज्ञान तथा केवल कर्मों का फल अल्प एवं अस्थिर होता है इस बात के ज्ञान का निश्चय कर्ममीमांसा के श्रवण के द्वारा ही संभव है। अद्वैतवेदान्त का पूर्वपक्ष है कि कर्मज्ञान ब्रह्मज्ञान का विरोधी है क्योंकि कर्मज्ञान भेदावलम्बी होता है जबकि ब्रह्मज्ञान अभेदावलम्बी है। इसका निराकरण करते हुए आचार्य रामानुज का कथन है कि चूंकि ब्रह्मजिज्ञासा को कर्मज्ञान की ही पूर्वाङ्ग के रूप में अपेक्षा होती है अतएव ब्रह्मविचार का पूर्ववृत्त कर्मविचार को ही मानना चाहिए । आचार्य का कथन है कि नित्यानित्य वस्तु विवेक आदि का ज्ञान मीमांसा शास्त्र के अध्ययन के बिना सम्भव नहीं है। फल, फल के साधन तथा उनकी प्राप्ति का प्रसार तथा अधिकारी इन चारों का जब तक निश्चय नहीं हो जाता है, तब तक कर्म के स्वरूप, उसका फल, उनका स्थिरत्व - अस्थिरत्व तथा आत्मा के नित्यत्व आदि का ज्ञान होना संभव नहीं है । तथा साथ ही साथ शम इत्यादि ज्ञान के साधन हैं इस बात का निश्चय अङ्गत्व ज्ञापन के बिना संभव नही है तथा अङ्गाङ्गिभाव के बोधन को ही विनियोग कहते हैं, और विनियोग का ज्ञान श्रुति तथा लिङ्ग आदि के द्वारा होता है जिसका ज्ञान पूर्वमीमांसा के तीसरे अध्यायके अध्ययन से ही संभव है।

भाष्यकार के अनुसार उद्गीथ इत्यादि उपासनाओं का प्रयोजनकर्मों की समृद्धि है, अतएव वे ब्रह्म दृष्टि स्वरूप हैं। फलतः उनका ज्ञान ब्रह्मज्ञान के लिए अपेक्षित है। उद्गीथ आदि विद्याओं का विचार इन वेदान्तशास्त्रों में ही करना चाहिए। इस तरह से उपासानाएँ वेदान्तशास्त्र में साक्षात् सङ्गत हैं न कि इनकी यहाँ पर आनुषंगिक संगति है। शास्त्रों क अनुसार फलाभिसंधि से रहित कर्मों के अनुष्ठान से ब्रह्मविद्या की लब्धि होती है। इस तरह से फलाभिसंधि से रहित कर्म ब्रह्मविद्या के साद्गुण्य के संपादक है । अत: वेदान्तशास्त्र में ही इन कर्मों की साक्षात् संगतिउपपन्न है। निष्कर्षतः उद्गीथादि उपासनाएं कर्म के स्वरूपज्ञान की अपेक्षा रखती है।

8.3 सारांश

भाष्यकार आचार्य रामानुज के अनुसार 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इस सूत्र में तीन पद हैं- अथ, अतः और ब्रह्मजिज्ञासा । यहाँ अथ पद आनन्तर्य का वाचक है, अतः पद कारणता को बताता है तथा ब्रह्मजिज्ञासा पद ब्रह्मविषयकविचार रूप अर्थ का वाचक है । इस प्रकार सूत्र का तात्पर्य है कि वेदाध्ययन के पश्चात् जिज्ञासु को यह बोध होता है कि केवल कर्मज्ञान का फल अल्प एवं

अस्थिर होता है जबकि ब्रह्मज्ञान का फल अनन्त एवं स्थिर होता है। मानव स्वभाव है कि वह अल्प एवं क्षयशील फल की अपेक्षा नित्य एवं अक्षय फल को ही प्राप्त करना चाहता है। इस प्रकार का सद्ज्ञान होने पर कि अल्प एवं क्षयशील फल की अपेक्षा अनन्त एवं अक्षय फल अधिक लाभप्रद है और वह अक्षय फल तो ब्रह्म की जिज्ञासा से ही प्राप्त होता है, अतः साधक को ब्रह्मजिज्ञासा करनी चाहिए।

'ब्रह्म' शब्द पुरुषोत्तम का वाचक है जो कि स्वभावत: समस्त दोषों से रहित, सीमातीत और असंख्य कल्याणगुणों के सागर हैं। ब्रह्म शब्द बृह् वृद्धौ धातु तथा बृंहु उपबृहंणे धातु से मनिन प्रत्यय के योग से निष्पन्न होता है जो मुख्यार्थवृत्ति के द्वारा भगवान् नारायण को ही द्योतित करता है।

अद्वैतवेदान्त का सिद्धान्त है कि 'कर्मज्ञान ब्रह्मजिज्ञासा का पूर्ववृत्त नहीं हो सकता है' किन्तु विशिष्टाद्वैत में कर्मविचार को ब्रह्मविचार के नियत पूर्ववृत्त के रूप में स्वीकार किया जाता है। भाष्यकार कहते हैं कि वाक्यार्थज्ञानमात्र अविद्या का निवर्तक नहीं हो सकता अपितु ध्यान, उपासना आदि शब्दों से कहा जाने वाला ज्ञान ही मुक्ति का साधन है। चूंकि वाक्यार्थज्ञान वेदान्त वाक्य विधेय नहीं हैं, अतः वह अविद्या का निवर्तक नहीं हो सकता, इसलिए वाक्यार्थज्ञान से भिन्न ही ज्ञान का वेदान्त वाक्य विधान करते हैं, उसे ही ध्यान तथा उपासना शब्द से कहा जाता है। श्रुतियाँ भी यही कहती हैं कि 'विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत'अर्थात् मुमुक्षु पुरुष को चाहिए कि वह श्रवण तथा मनन के द्वारा अच्छी तरह जानकर ही उस परब्रह्म का ध्यान करे। आचार्य कहते हैं कि वेदान्तवाक्यों के द्वारा जिस वेदन(ज्ञान) का विधान किया गया है वह उपासनात्मक है और वही मोक्षप्राप्ति का साधन है।वेदान्तवाक्य जिस वेदन को मोक्ष का साधन बतलाते हैं, वह वेदन भक्ति स्वरूप उपासना ही है, इसीलिए श्रुतियाँ तथा स्मृतियाँ भी इसी अर्थ का प्रतिपादन करती हैं कि भक्ति के अतिरिक्त कोई दूसरा मुक्ति का साधन नहीं है। भक्ति ही मुक्ति का एकमात्र साधनहै। वह भक्ति ही उपासना,ध्यान,ध्रुवानुस्मृति इत्यादि शब्दों से कही जाती है।

8.4 शब्दावली

सूत्र, भाष्य, स्वाध्याय, वेद, वेदांग, उद्गीथ विद्या, ध्यान, उपासना, ध्रुवानुस्मृति, भक्ति, विवेक, विमोक, अभ्यास, कल्याण, अनवसाद, अनुद्धर्ष।

8.5 कुछ उपयोगी पुस्तकें

- श्रीभाष्यम्, संस्कृत संशोधन संसत्, मेलुकोटे, 1985
- श्रीभाष्यम्, (हिन्दी व्याख्याकार) शिवप्रसाद द्विवेदी, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 2009
- श्रीभाष्य, (हिन्दी व्याख्याकार) ललित कृष्ण गोस्वामी, निम्बार्क पीठ, प्रयाग, सं. 2030
- The Vedantasutras with the Sribhashya of Ramanujacharya, M. Rangacharya & M. B. Varadraja Aiyangar, The Brahmavadin Press, Madras, 1899

8.6 अभ्यास प्रश्न

i) 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' में 'अथ' पद का अर्थ क्या है?

ii) 'ब्रह्मजिज्ञासा' पद का विवेचन कीजिए ?

iii) ध्रुवानुस्मृति का स्वरूप बताईये?

iv) ध्रुवानुस्मृति के सप्तसाधन क्या हैं?

8.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

i) 'अथ' पद आनन्तर्य का वाचक है। इसका आशय है कि जिज्ञासु को वेदाध्ययन के अनन्तर ब्रह्मजिज्ञासा करनी चाहिए।

ii) इस पद में षष्ठी तत्पुरुष समास है जिसका स्वरूप है – 'ब्राह्मणो जिज्ञासा ब्रह्मजिज्ञासा'। 'ब्रह्मण:' पद में षष्ठी विभक्ति है जो कि कर्म के अर्थ में है।'जिज्ञासा' का अर्थ है- जानने की इच्छा। ब्रह्म इस जिज्ञासा क्रिया का कर्म है अतः सूत्रार्थ है 'ब्रह्म को जानने की इच्छा करनी चाहिए'।

iii) ध्येय तत्व के चिन्तन की ऐसी धारा को ध्यान कहते हैंजो अविच्छिन्नतः चलती रहती है। ध्यान करने वाले व्यक्ति के मन में ध्येयतत्त्व से व्यतिरिक्त किसी भी दूसरी वस्तु की स्मृति नहीं होती हैं। वह चिन्तन की धारा तेल की धारा के समान होती है, जिसतरह तेल की धारा निश्छिद्र होती है उसी तरह वह चिन्तन की धारा कहीं टूटती नहीं है। ऐसे ध्यान कोही 'ध्रुवानुस्मृति' कहा जाताहै।इस स्मृति का आकार दर्शन के समान होता है।

iv) ध्रुवानुस्मृति के सप्तसाधन हैं- विवेक, विमोक, अभ्यास, क्रिया, कल्याण, अनवसाद और अनुद्धर्ष।

इकाई 9 जन्माद्यस्य यतः (ब्रह्मसूत्र 1.1.2, श्रीभाष्य)

9.0 उद्देश्य

इसइकाई केअध्ययनकेपश्चात्आप :

- ब्रह्म के लक्षण से अवगत होंगे।
- सविशेष ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करेंगे।
- ब्रह्म की जगत्कारणता के विषय में जानकारी प्राप्त करेंगे।

9.1 प्रस्तावना

भारतीय संस्कृति ज्ञान–विज्ञान का अजस्र स्रोत है तथा इसमें व्यापक जीवनदर्शन भी दृष्टिगत होता है। इस ज्ञान-विज्ञान तथा जीवन दर्शन का मूलकारण वेद है। वेद भारतीय संस्कृति, धर्म तथा दर्शन का साक्षात् प्राण है। वेद न केवल भारतीय साहित्य के सर्वप्रथम ग्रन्थ हैं अपितु मानव सभ्यता के इतिहास में सर्वप्रथम ग्रन्थरत्न हैं। भारतीय सनातन परम्परा में वेद को अपौरुषेय स्वीकार किया जाता है। मानवधर्म तथा तत्वज्ञान का यही उद्गमस्थान है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इस चतुर्विध पुरुषार्थ की प्राप्ति का यथोचित तथा सम्यक् मार्ग वेद में ही निरुपित किया गया है। कहा भी गया है-

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तुपायो न विद्यते।
एनं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता॥ (मनुस्मृति, 12.97)

अर्थात् प्रत्यक्ष, अनुमान तथा अन्य प्रमाणों से मानव कल्याण के जिन साधनों का ज्ञान नहीं हो पाता है, उनका ज्ञान वेद से प्राप्त होता है एवं यही वेद का वेदत्व है। वैदिक संहिताओं को विषय की दृष्टि से तीन भागों में विभक्त किया गया है – कर्म, उपासना और ज्ञान। संहिता, ब्राह्मण तथा आरण्यकों में प्रधानतया कर्मादि का प्रतिपादन होने से उनका कर्म और उपासना में अन्तर्भाव है। ज्ञान का विवेचन करने के कारण उपनिषद् ज्ञानकाण्ड कहलाते हैं।

वेदान्तदर्शन में प्रतिपादित 'वेदान्तो नामोपनिषदत्प्रमाणम्' इस वाक्य से ज्ञात होता है कि वेदान्तदर्शन उपनिषद् को ही प्रमाण स्वीकृत करता है जैसा कि वेदान्तसार के रचयिता आचार्य

सदानन्द अपने ग्रन्थ में वेदान्त शब्द को परिभाषित करते हुए कहते हैं –**'वेदान्तो नामुपनिषत्प्रमाणं तदुपकारीणि शारीरकसूत्रादीनि च'**।उपनिषद् प्रस्थानत्रयी के प्रथम प्रस्थान अर्थात् श्रुति प्रस्थान के प्रतिनिधि ग्रन्थ के रूप में गृहीत किये जाते हैं। द्वितीय प्रस्थान स्मृति प्रस्थान है जिसका प्रतिनिधि ग्रन्थ श्रीमद्भग्वद्गीता है। तृतीय प्रस्थान न्याय प्रस्थान है जिसका आधार ग्रन्थ महर्षि बादरायण व्यास प्रणीत ब्रह्मसूत्र है।

औपनिषद् सिद्धान्तों में आपाततः विरोध प्रतीत होने पर उसका परिहार करने तथा एक वाक्यता करने के उद्देश्य से भगवान् बादरायण मुनि ने ब्रह्मसूत्रों की रचना की है।वेदान्त दर्शन, सांख्य-योग, न्यायादि सभी दर्शनों में महर्षि कृष्णद्वैपायनकृत ब्रह्मसूत्र अत्यन्त महत्वपूर्ण ग्रन्थ है जिसमें अतीव संक्षिप्तरूप से परब्रह्म के स्वरूप, उसकी प्राप्ति के साधन, उसकी उपासना एवं विज्ञान के फल का साङ्गोपाङ्ग निरूपण किया गया है। ब्रह्मसूत्र के प्रथम सूत्र 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' में ब्रह्म की जिज्ञासा के विषय का विवेचन किया गया है। इस सूत्र का आशय यह है जब जिज्ञासु वेदाध्ययन के उपरान्त पूर्वमीमांसा शास्त्र का अध्ययन करता है तो उसे कर्मो की अल्पफलता तथा क्षयशीलता का बोध हो जाता है एवं उत्तरमीमांसा (उपनिषदों) के अध्ययन से ब्रह्मज्ञान रूप फल की नित्यता तथा अक्षयता का भी बोध हो जाता है। अतः उसे यह स्पष्ट हो जाता है कि अनन्त एवं अक्षय फललाभ के लिए ब्रह्म की ही जिज्ञासा करनी चाहिए। जिज्ञासा के कर्मभूत ब्रह्म के स्वरूप एवं लक्षण का निरूपण प्रकृत 'जन्माद्यस्य यतः' सूत्र में किया गया है।

9.2 जन्माद्यस्य यतः का तात्पर्य

'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इस सूत्र के व्याख्यान में आचार्य रामानुज ने स्पष्ट किया कि वेदाध्ययन के अनन्तर कर्मज्ञान की अनित्यफलता तथा ब्रह्मज्ञान की नित्यफलता का बोध होने के पश्चात् जिज्ञासु को ब्रह्मजिज्ञासा करनी चाहिए। इस भाष्यखण्ड में आचार्य रामानुज पूर्वपक्ष की तरफ से प्रश्न उपस्थित करते हैं कि ब्रह्म क्या है जिसका स्वरूप लक्षण जन्माद्यधिकरण में प्रस्तुत किया जा रहा है? पूर्वसूत्र में जिसे जिज्ञास्य कहा गया है कि उस तत्त्व को जानने की इच्छा करनी चाहिए; वह वस्तु कैसी है ? उसका आकार-प्रकार तथा संकेत किस तरह का है ? यह स्वाभाविक जिज्ञासा होती है कि विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के अनुसार ब्रह्म का ज्ञान कैसे किया जाय।

इसी जिज्ञासा का समाधान इस अधिकरण के भाष्य में प्रस्तुत किया गया है। आचार्य रामानुज के अनुसार 'जन्माद्यस्य यतः' सूत्र के जन्मादि पद में तद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि समास है जिसके अनुसार इस पद का अर्थ है- जन्म, स्थिति एवं नाश। इस सृष्टि की उत्पत्ति, सृष्टि की स्थिति अर्थात् उसका पालन-पोषण तथा नाश अर्थात् प्रलय। बहुव्रीहि समास में अन्य अर्थ प्रधान होता है तथा इसके दो भेद होते हैं- तद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि तथा अतद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि। जहाँ बहुव्रीहि समास में प्रधान अर्थ के साथ उसमें विद्यमान गुणों का भी ग्रहण हो जाता है तो वहाँ तद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि होता है। जैसे- 'लम्बकर्णमानय' अर्थात् लम्बे कान वाले (अर्थात् गधा) को लाओ। लम्बकर्णमानय पद का समास विग्रह इस प्रकार है- 'लम्बं कर्णं यस्य सः लम्बकर्णः तं आनय'। यहाँ लम्बकर्ण वाले प्राणी के साथ गुण रूप से संयुक्त लम्बे कान भी साथ में आते हैं, यही तद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि है। जहाँ बहुव्रीहि समास में प्रधान अर्थ के साथ उसमें विद्यमान गुणों का ग्रहण नहीं होता है तो वहाँ अतद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि होता है। जैसे- 'दृष्टकाशीकमानय' अर्थात् जिसने काशी देख ली है, उसे लाओ। दृष्टकाशीकमानय पद का

समास विग्रह इस प्रकार है- 'दृष्टा काशी येन सः दृष्टकाशीक: तं आनय'। यहाँ काशी देखने वाले व्यक्ति साथ गुण रूप से संयुक्त काशी साथ में नहीं गृहीत होती है, यही अतद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि है।

'जन्मादि' पद में यदि अतद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि किया जाय तो उसका स्वरूप होगा 'जन्म आदौ ययो तौ जन्मादौ अर्थात् स्थितिप्रलययो:' अर्थात् जन्मादि पद से केवल स्थिति एवं लय का ही ग्रहण होगा और ब्रह्म में केवल इन्हीं की कारणता होगी। ऐसा स्वीकार करने पर ब्रह्म सृष्टि की उत्पत्ति का कारण नहीं कहलायेगा। फिर हमें यह मानना पड़ेगा कि सृष्टि की उत्पत्ति का कारण कोई और सत्ता है जिससे कि विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त में दोष प्रसक्त होने लगेगा। इसीलिए जन्मादि पद में तद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि समास को स्वीकार किया जाता है जिसका विग्रह 'जन्म आदौ यस्य स जन्मादि: अर्थात् जन्मस्थितिलय:' है। ऐसा मानने पर ब्रह्म जगत की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय तीनों का कारण है, यह अर्थ स्फुट होता है और यही विशिष्टाद्वैत दर्शन का सिद्धान्त है।

सूत्रस्थ द्वितीय पद 'अस्य' लक्षण स्वरूप है जो जगत् का वाचक है। आचार्य का कथन है यह जगत् अचिन्त्य है अर्थात् इतना सूक्ष्म है कि ज्ञान का विषय कठिनता से बन पाता है। यह जगत् विविध एवं विचित्र है जिसका आशय है कि सृष्टि में मनुष्य, पशु, पक्षी, चेतन, अचेतन आदि अनेक प्रकार के चित्र-विचित्र प्राणी समुदाय हैं। यह जगत् अनेक प्रकार के कर्ता एवं भोक्ताओं से भी युक्त है। इसका आशय यह है कि कर्ता एवं भोक्ता के मध्य भी भेद विद्यमान है। यह भेद इस प्रकार से है कि कर्म एवं फल के सम्बन्ध में यह सामान्य नियम है कि जो कर्म करता है, फल की प्राप्ति भी उसे ही होती है। किन्तु इसी लोक में हम देखते हैं कि कर्मकर्त्ता तथा फलकर्ता भिन्न-भिन्न भी होते हैं। जैसे श्राद्धकर्म में श्राद्धक्रिया का कर्त्ता तो पुत्र होता है किन्तु उसका फल पितरों को प्राप्त होता है। इसी तरह वैश्वानर इष्टि में पिता का कर्तृत्व है किन्तु फल का उपभोग पुत्र को प्राप्त होता है। पुनश्च यह जगत् नियत देशकाल फलोपभोग सम्पन्न है जिसका आशय है कि प्राणियों को अपने कर्मों के कारण जिन फलों की प्राप्ति होती है; उन फलों की प्राप्ति किसी निश्चित देश तथा काल में होती है। इस जगत् का विस्तार निरुपित करते हुए आचार्य कहते हैं कि इसमें ब्रह्मा से लेकर स्तम्ब पर्यन्त असंख्य जीव विद्यमान हैं।

सूत्रस्थ 'यतः' पद जगत्कारण को सूचित करता है। इस जगत् का कारण 'ब्रह्म'है क्योंकि उसी से इस जगत् की उत्पत्ति होती है, वही इस जगत को धारण करता है तथा प्रलय के समय यह जगत उसी में लीन हो जाता है। ऐसे ब्रह्म का स्वरूप निरुपित करते हुए आचार्य कहते हैं कि ब्रह्म सभी प्रकार के दोषों से रहित है। राग, द्वेष, काम, क्रोध आदि दोष उस परमात्मा को व्याप्त नहीं कर पाते हैं। वह परमात्मा सत्यसंकल्प है अर्थात् वह जो कुछ भी संकल्प करता है वह सब कुछ पूर्ण हो जाता है। ब्रह्म ज्ञान, आनन्द इत्यादि असंख्य कल्याण गुणों से युक्त है। वह सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान है। प्राणियों पर कृपादृष्टि रखने के कारण वह परम कारुणिक भी है। ऐसे लक्षणों से समन्वित ब्रह्म से ही इस जगत् की उत्पत्ति, स्थिति एवं प्रलय सम्पन्न होता है।

भाष्यकार पूर्वपक्ष की तरफ से एक उपनिषद वाक्य प्रस्तुत करते हैं। तैत्तिरीय उपनिषद में उद्दालक-श्वेतकेतु संवाद में यह प्रकरण आया है जहाँ ब्रह्म के लक्षण को निरूपित करते हुए कहा गया है –

'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद् विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म'। (तैत्तिरीय उपनिषद, 3.1.3)

अर्थात् यह सम्पूर्ण भूत-भौतिक समुदाय जिससे उत्पन्न होता है, जिसके आधार पर स्थित रहता है तथा मृत्यु के उपरान्त जिसमें लीन हो जाता है, उसी को जानने की इच्छा करो, वही ब्रह्म है। यह श्रुति वाक्य ब्रह्म के स्वरूप में प्रमाण स्वीकार किया जाता है।

इसी श्रुति वाक्य को आधार बनाते हुए पूर्वपक्षी कहता है कि इस वाक्य को सुनकर यह संशय होता है कि इस श्रुति से प्रतिपादित ब्रह्म को जाना जा सकता है अथवा नहीं। पूर्वपक्ष का अभिमत है कि इस श्रुतिवाक्य के आधार पर ब्रह्म को नहीं जाना जा सकता है। यदि यह प्रश्न हो कि श्रुति स्वयं ब्रह्म के स्वरूप का स्पष्टतया कथन कर रही है तो फिर ब्रह्म का स्वरूप कैसे ज्ञात नहीं होगा; तो पूर्वपक्ष युक्ति प्रस्तुत करता है कि इस श्रुति में जन्म आदि विशेषणों से युक्त जिस ब्रह्म का उपाख्यान किया गया है उसको स्वीकार करने पर परब्रह्म में अनित्यता तथा संसारित्व दोषों की प्रसक्ति होने लगेगी। जन्म, स्थिति एवं मृत्यु आदि गुण अनित्य होते हैं और किसी संसारी प्राणी का ही धर्म होते हैं। यदि इन गुणों को ब्रह्म का विशेषण बनाया जायेगा तो ये ब्रह्म के स्वरूप से संयुक्त हो जाएंगे और उसमें अनित्यत्व और संसारित्व की सिद्धि करने लगेंगे। इसके साथ ही 'अनेकत्व' नाम का एक और दोष ब्रह्म में प्रसक्त होने लगेगा। विशेषण का स्वभाव होता है कि वह व्यावर्तक होता है अर्थात् एक वस्तु को दूसरी से पृथक् करता है। जैसे जब हम 'नील: घट:' ऐसा विशिष्ट प्रयोग करते हैं तो यहाँ नील विशेषण है जो उस घट को रक्त, श्याम, पीत आदि नीलभिन्न समस्त घटों से पृथक् कर देता है। इसी आधार पर यदि हम ब्रह्म के सकल हेय प्रत्यनीक, सर्वज्ञ, शक्तिसम्पन्न, कल्याणगुणसागर आदि अनेक गुणों को स्वीकार कर लें तो ये सभी गुण ब्रह्म के विशेषण होने के कारण परस्पर एक दूसरे को व्यावर्तित करने लगेंगे और इस प्रकार अनेक ब्रह्म की सत्ता स्वीकार करनी पड़ेगी। यही अनेकत्व दोष की आपत्ति है।

पूर्व भाष्यखण्ड में पूर्वपक्ष ने यह दोषापत्ति की थी कि जगत्कारण ब्रह्म को सकलहेयप्रत्यनीक, सर्वज्ञ, शक्तिसम्पन्न, कल्याणगुणसागर आदि गुणों से युक्त स्वीकार करने पर उसमें अनेकत्व दोष की प्रसक्ति होती है। इस भाष्यखण्ड में इस आपत्ति का उत्तर प्रस्तुत करके पुनः उस समाधान पर पूर्वपक्ष की आपत्ति प्रस्तुत की गयी है। उत्तरपक्ष का एक दृष्टान्त के माध्यम से कथन है कि 'देवदत्त: श्यामो युवा लोहिताक्ष: समपरिमाण:' अर्थात् कोई देवदत्त नामक व्यक्ति है जो श्यामवर्ण का है, युवा है, लाल नेत्रों वाला है तथा सुडौल परिमाण वाला है। इस वाक्य में श्याम, युवत्व, लोहिताक्ष एवं समपरिमाणत्व ये सभी देवदत्त के विशेषण हैं। यहाँ विशेषणों की संख्या एक से अधिक है किन्तु ये सभी विशेषण मिलकर एक ही देवदत्त का बोध करा रहे हैं। ठीक उसी प्रकार ब्रह्म के स्वरूप बोधक विशेषणों के अनेक होने पर भी एक ही ब्रह्म का बोध होगा न कि अनेक ब्रह्म का बोध होने लगेगा। अतः ब्रह्म में अनेकत्व की आपत्ति तर्कसंगत नहीं है।

इस उत्तरपक्ष को सुनकर पूर्वपक्ष कहता है कि आपने जो कहा है उस विषय में एक अन्तर है। प्रकृत वाक्य में देवदत्त का हमें प्रत्यक्ष ज्ञान हो रहा है। इस प्रत्यक्ष से यह पता चल रहा है कि देवदत्त एक ही व्यक्ति है तथा श्याम, युवत्व, लोहिताक्ष एवं समपरिमाणत्व ये सभी उसी के विशेषण हैं। इसी स्पष्ट प्रतीति के कारण सभी विशेषणों का उनके एकमात्र आश्रयभूत देवदत्त में समन्वय हो जाता है। यदि यह प्रतीति प्रत्यक्ष के द्वारा स्पष्ट रूप से न हो रही होती तो विशिष्टता का बोध कराने वाले पृथक्-पृथक् गुणों की अनेकता के कारण देवदत्त की अनेकता भी अनिवार्य हो जाती, परन्तु ऐसा नहीं हुआ है।

ब्रह्म के प्रसंग में यह तथ्य ऐसा नहीं है क्योंकि 'यतो वा इमानि...' इस श्रुति वाक्य के अनुसार अनेक विशेषणों के द्वारा ही उस ब्रह्म के लक्षण को बतलाने की चेष्टा की गयी है; इसलिए उस पर ब्रह्म की अनेकता का प्रसंग उपस्थित हो जाता है। ब्रह्म के सम्बन्ध में अन्य कोई प्रमाण भी नहीं है जिसके द्वारा यह सिद्ध किया जा सके कि वह ब्रह्म एक ही है। दृष्टान्त वाक्य में तो देवदत्त का ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण से हो जाने के कारण उसकी अनेकता निराकृत हो जाती है। यदि ब्रह्म भी इसी प्रकार से प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय होता तो उसे देखकर उसकी एकता का ज्ञान सुगमता से हो जाता और फिर अनेकत्व दोष का निरास हो जाता। किन्तु ऐसा न होने के कारण यह आपत्ति बनी रह जाती है कि अनेक विशेषणों से युक्त होने के कारण ब्रह्म भी अनेक ही है।

आचार्य रामानुज पूर्वपक्ष की ब्रह्म का अनेकत्व सिद्ध करने वाली युक्ति को और पुष्ट करते हैं। इसके लिए आचार्य ने एक दृष्टान्त प्रस्तुत किया है। पूर्वपक्षी कहता है कि अगर सिद्धान्त पक्ष ऐसा कहे कि ब्रह्म शब्द तो एक है इसलिए उसके लिए प्रयुक्त समस्त विशेषण भी एक ही होंगे, अतः उसमें अनेकत्व का प्रसंग ही प्रसक्त नहीं होता है। आशय यह है कि 'यतो वा इमानि...' इस श्रुति वाक्य में ब्रह्म को जगत् की उत्पत्ति, स्थिति एवं प्रलय का कारण कहा गया है, किन्तु इस लक्षण में विशेषणों की अनेकता के कारण विशेष्य ब्रह्म में भी अनेकता आ जाती है। उत्तरपक्ष का कहना है कि इस लक्षण में चूँकि विशेष्य के रूप से एक ही ब्रह्म का कथन किया गया है इसलिए विशेषणों की अधिकता होने पर भी ब्रह्म में अनेकता का कोई प्रश्न ही नहीं उठता है।

इस प्रत्युत्तर पर पूर्वपक्ष पुनः एक लौकिक दृष्टान्त के माध्यम से सिद्धान्त पक्ष में दोष प्रदर्शित करता है। उसका कथन है कि संसार में हमें यह अनुभव होता है कि जो व्यक्ति 'गौ' के विषय में नहीं जानता है कि गौ किस प्रकार का पशु होता है और वह किसी अन्य व्यक्ति से गौ के स्वरूप को जानने की जिज्ञासा व्यक्त करता है कि गौ कैसी होती है? ऐसा पूछे जाने पर दूसरा व्यक्ति उससे कहता है 'षण्डो मुण्ड: पूर्णश्रृंगौ गौ:' अर्थात् पूँछ से युक्त मुण्डित तथा बड़ी-बड़ी सींगों वाली गौ होती है। यहाँ गौ के दो विशेषण 'षण्ड –मुण्डत्व तथा पूर्णश्रृंगत्व' दिए गए हैं अर्थात् (i) जो षण्ड, मुण्ड है वह गाय है तथा (ii) जो पूर्णश्रृंग है वह गाय है। इन दो विशेषणों के कारण दो गायों की प्रतीति हो रही है क्योंकि विशेषण का कार्य ही पृथक् करना होता है। अब जो व्यक्ति गौ के। वास्तविक स्वरूप से परिचित नहीं है उसे यह वाक्य सुनकर यही प्रतीति होगी कि ये दोनों विशेषण दो भिन्न-भिन्न गौ को बता रहे हैं। इसी दृष्टान्त को आधार बनाते हुए पूर्वपक्षी कहता है कि ब्रह्म में भी इसी प्रकार से अनेकत्व की प्रतीति होगी क्योंकि उसके भी विशेषणों में भिन्नता मौजूद है। जो व्यक्ति ब्रह्म को नहीं जानता है, उसे जब ब्रह्म के स्वरूप को जानने की इच्छा होगी तो 'यतो वा इमानि....' इत्यादि श्रुति वाक्यों के द्वारा ही उसे ब्रह्म का स्वरूप बताया जायेगा। किन्तु इस वाक्य में प्रयुक्त अनेक विशेषणों के कारण वह ब्रह्म को अनेक ही समझने लगेगा। पूर्वपक्ष का निष्कर्ष है कि जिन वस्तुओं का ज्ञान मात्र लक्षणों के आधार पर होता है उनके लक्षण अनेक विशेषणों से युक्त नहीं हो सकते हैं। ऐसी वस्तुओं के लक्षण में कोई एक ही विशेषण होना चाहिए नहीं तो उसमें अनेकत्व दोष की सम्भावना अकाट्य है। चूँकि श्रुति वाक्य में ब्रह्म के लक्षण में अनेक विशेषणों का प्रयोग किया गया है, अतः ब्रह्म के अनेकत्व की आपत्ति दुर्निवार है।

पूर्वपक्ष की तरफ से एक और प्रबल युक्ति प्रस्तुत की गयी है। उनका कहना है कि सिद्धान्ती ने ब्रह्म का लक्षण निरुपित करते हुए 'यतो वा इमानि...' ये श्रुति वाक्य प्रस्तुत किया है जिसमें हमनें विशेषणों की अनेकता के कारण ब्रह्म के अनेकत्व दोष की आपत्ति उपस्थित की है।

अब यदि सिद्धान्ती इस दोष से बचने के लिए यह तर्क प्रस्तुत करे कि ये विशेषण तो ब्रह्म के उपलक्षण मात्र हैं, अतः ब्रह्म में अनेकत्व दोष नहीं आता है। पूर्वपक्ष का कहना है कि यह कथन असंगत है क्योंकि ब्रह्म के स्वरूप निरूपण में इन विशेषणों से भिन्न किसी अन्य वाक्य का कथन श्रुति में नहीं किया गया है। अभिप्राय यह है कि उपलक्षण वाक्य में दो भिन्न-भिन्न वाक्यों का प्रयोग किया जाता है जिनमें से एक वाक्य दूसरे वाक्य को उपलक्षित करता है। यथा- 'यत्रायं सारस: स देवदत्तकेदार:' अर्थात् जहाँ यह सारस बैठा है वह देवदत्त का खेत है। यहाँ सारस का बैठना देवदत्त के खेत को उपलक्षित कर रहा है। इस उदाहरण में दो वाक्य हैं – पहला वाक्य है, 'जहाँ वह सारस बैठा है' तथा दूसरा वाक्य है 'वह देवदत्त का खेत है'। यहाँ पहला वाक्य उपलक्षण वाक्य है तथा दूसरा उपलक्ष्य वाक्य है। यहाँ दोनों उपलक्षण विशेषण यद्यपि पृथक्-पृथक् हैं फिर भी वे मिलकर एकाकार प्रतीति करा रहे हैं। यदि सिद्धान्ती यह कहे कि इसी प्रकार ब्रह्म के पृथक्-पृथक् विशेषण भी एकाकार होकर एक ही ब्रह्म की प्रतीति कराएँगे तो उनका यह कथन अनुचित है। ब्रह्म के लक्षण में एक ही वाक्य का प्रयोग किया गया है तथा उसके अतिरिक्त कोई दूसरा वाक्य उपलब्ध नहीं होता है, अतः उनमें उपलक्षण-उपलक्ष्य भाव नहीं बन सकता है। दूसरी बात यह है कि देवदत्त के उदाहरण वाक्य में विशेषणों की एकाकारता की प्रतीति में भेद है। ब्रह्म के लक्षण के प्रसंग में ऐसी कोई भी प्रतीति नहीं होती है, अतः दोष पूर्ववत् बना रहता है।

पुनः सिद्धान्त पक्ष एक अन्य श्रुति वाक्य को प्रस्तुत करके उपलक्षण के पक्ष का समर्थन करता है। वह श्रुति वाक्य है- 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' अर्थात् ब्रह्म सत्यस्वरूप, ज्ञानस्वरूप एवं अनन्त है। इस श्रुति वाक्य में जिस ब्रह्म के स्वरूप को निरुपित किया गया है वह 'यतो वा इमानि....' इस श्रुति वाक्य में निरुपित ब्रह्म के जगत्कारण लक्षणों (जन्मादि) का उपलक्षण है। आशय यह है कि 'जिससे इस सृष्टि की उत्पत्ति होती है, सृष्टि की स्थिति बनी रहती है तथा प्रलय में सृष्टि जिसमें लय को प्राप्त हो जाती है, वही ब्रह्म है; इस लक्षण वाक्य में निरुपित ब्रह्म ही सत्यस्वरूप, ज्ञानस्वरूप एवं अनन्त है। अतः दोनों विशेषण एकाकार होकर ब्रह्म की एकता को सिद्ध करते हैं।

इसका खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कहता है कि उपरोक्त दोनों ही श्रुति वाक्य ब्रह्म के स्वरूप लक्षण को प्रस्तुत करते हैं। यदि इन दोनों ही वाक्यों को एक दूसरे का उपलक्षण स्वीकार किया जायेगा तो उनमें अन्योन्याश्रय दोष की प्रसक्ति होगी। इस दोष के कारण इन दोनों ही वाक्यों में प्रतिपादित लक्षणों से ब्रह्म के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान नहीं होगा।

ब्रह्म के लक्षण निरूपक 'जन्माद्यस्य यतः' सूत्र के भाष्य में आचार्य ने सर्वप्रथम जन्मादि पदों के अर्थ का निरूपण किया है। पुनः ब्रह्म के स्वरूप को सुदृढ़ करने हेतु उन्होंने पूर्वपक्ष के द्वारा से अनेक दोषों का उपस्थापन किया है। प्रस्तुत भाष्यखण्ड में उन समस्त दोषों का निराकरण प्रस्तुत किया जा रहा है।

आचार्य का कथन है कि 'यतो वा इमानि...' तथा 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि श्रुति वाक्यों में प्रतिपादित लक्षण ब्रह्म को उपलक्षित कर सकते हैं और इसमें किसी प्रकार का कोई दोष प्रसक्त नहीं होता है। श्रुति वाक्यों में ब्रह्म को लक्ष्य के रूप से प्रस्तुत किया गया है वह औचित्यपूर्ण है। पूर्वपक्ष का यह कथन है कि ब्रह्म के इन लक्षणों में उपलक्षण एवं उपलक्ष्य इन दोनों के आकार से पृथक् किसी अन्य प्रकार के ब्रह्म की प्रतीति इन वाक्यों से नहीं होती है, अतः ये ब्रह्म के स्वरूप प्रतिपादक नहीं हो सकते हैं। आशय यह कि लक्ष्य को उपलक्षण से

भिन्न होना चाहिए तभी उनमें उपलक्षण-उपलक्ष्य भाव बन सकता है। इसके उत्तर में आचार्य रामानुज कहते हैं कि इन वाक्यों में लक्ष्यभूत ब्रह्म असीम, अति बृहत् एवं जगत् के उपबृंहण का हेतु है। ब्रह्म शब्द 'बृह् वृद्धौ' धातु तथा 'बृंहु उपबृहंणे' धातु से मनिन प्रत्यय के योग से निष्पन्न होता है जिसका अर्थ है कि जो स्वयं वृद्धिरूप है और इस संसार के अन्य प्राणियों की उपवृद्धि का निमित्त है, वही ब्रह्म है। ब्रह्म में यह वृद्धि अवधिरहित महत्त्व रूप है क्योंकि ब्रह्म में संकोच आदि का अभाव है। यह ब्रह्म की व्यापकता को लक्षित करती है अर्थात् ब्रह्म सर्वव्यापक है। इसी तरह ब्रह्म का उपबृंहण रूप इस प्रकार है कि सृष्टि में जितने भी प्राणी निकाय हैं, उनका पालन-पोषण ब्रह्म के द्वारा ही किया जाता है। कोई भी प्राणी भौतिक, आध्यात्मिक आदि किसी भी प्रकार की उन्नति को यदि प्राप्त करता है तो उन सबमें ब्रह्म की हेतुता है क्योंकि वह अन्तर्यामी के रूप से समस्त प्राणियों में विद्यमान है। इस प्रकार स्वरूप तथा गुणों के द्वारा सीमातीत और सर्वोत्कृष्ट बृहत्व जिसमें विद्यमान हो वही ब्रह्म पद का वाच्य हो सकता है तथा वही सर्वेश्वर है। सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति एवं लय इसी ब्रह्म का उपलक्षण हैं। यतः, येन और यत् ये सभी पद जन्मादि का ही प्रसिद्ध की तरह निर्देश करते हैं और ये सभी लोक में प्रसिद्ध जन्म आदि के अनुवादक मात्र हैं।

भाष्यकार एक और श्रुति वाक्य दृष्टान्त एवं प्रमाण के रूप से प्रस्तुत करते हैं- 'सदेव सोम्येदमग्रमासीत् एकमेवाद्वितीयम्' तथा 'तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत'। इनका आशय है कि हे सौम्य! यह जगत उत्पत्ति के पूर्व एक तथा अद्वितीय सत् था। उस (ब्रह्म) ने विचार किया कि मैं बहुत हो जाँऊ और फिर उसने तेज की सृष्टि की। इस श्रुति वाक्य में जो 'सत्' पद आया है वह 'ब्रह्म' का वाच्य है। इसी वाक्य से ब्रह्म की जगत्कारणता भी कही गयी है। ब्रह्म ही इस सृष्टि का उपादानकारण है तथा वही निमित्तकारण भी है। आचार्य स्पष्ट करते हैं कि 'यह जगत् पहले एक एवं सत्स्वरूप था' इसके द्वारा ब्रह्म की उपादानकारणता का प्रतिपादन करके 'अद्वितीयं' पद से अन्य अधिकरण(निमित्तकारण) का निषेध करते हुए उस ब्रह्म ने यह संकल्प किया कि मैं अनेक रूपों में अभिव्यक्त हो जाँऊ और फिर उसने तेज की रचना की। इस वाक्य में एक ही ब्रह्म को जगत का उपादान एवं निमित्त दोनों प्रकार का कारण कहा गया है। इससे स्पष्ट होता है कि जन्मादि लक्षणों के द्वारा जिस ब्रह्म को लक्षित किया गया है वह एक और अद्वितीय है। इस प्रकार प्रकृत श्रुति वाक्य ब्रह्म का उपलक्षण करते हैं।

ब्रह्म की सर्वज्ञता सिद्धि का तर्क प्रस्तुत करते हुए आचार्य कहते हैं कि जगत का उपादान एवं निमित्त कारण होने से ब्रह्म सर्वज्ञ, सत्यसंकल्प, विलक्षण शक्तिसम्पन्न तथा बृहत्व से पूर्ण है। लोक व्यवहार में हम यह देखते हैं कि यदि कोई कर्ता किसी कार्य को सिद्ध करना चाहता है या कोई उत्पत्ति करना चाहता है तो उसे उस कार्य के उपादान कारणों का ज्ञान होना चाहिए। यदि कर्ता को कारण सामग्री का ज्ञान नहीं है तो वह कभी भी कार्य की निष्पत्ति नहीं कर सकता है। यथा- जिस व्यक्ति को यह ज्ञात नहीं है कि घट को उत्पन्न करने के लिए मृदा, चाक, दण्ड आदि साधनों की आवश्यकता होती है, वह कभी भी घट की रचना नहीं कर सकता है। यदि कोई कर्ता किसी कार्य की रचना करता हुआ दिखाई दे रहा है या यदि हम किसी कार्य की उत्पत्ति से परिचित हैं तो हमें यह समझ जाना चाहिए कि उस कर्त्ता को उपादान सामग्री का ज्ञान है।इसी आधार पर यह कहा जा सकता है कि सृष्टि में जो नदी, पर्वत, समुद्र, पृथिवी आदि कार्य अनुभूत हो रहे हैं वे सभी किसी कर्ता द्वारा ही उत्पन्न किये गए होंगे। नदी आदि कार्यों का कर्ता वही हो सकता है जिससे नदी आदि को निर्मित करने की कारण सामग्री का ज्ञान है। इन कार्यों के कर्ता में ज्ञान की अनिवार्यता सिद्ध है अतः इनके कर्ताभूत ब्रह्म में सर्वज्ञता की सिद्धि होती है।

यह ब्रह्म सत्यसंकल्प भी है अर्थात् उसके मन में जो भी संकल्प उदित होते हैं वे सभी पूर्ण हो जाते हैं। ब्रह्म में विलक्षण शक्तिमत्ता भी है क्योंकि सृष्टि में जितने प्रकार के चराचर एवं सूक्ष्म परमाणु से लेकर विभु आकाश तक विलक्षण कार्य दृष्टिगत हो रहे हैं उनका कर्त्ता कोई विलक्षण शक्तिसम्पन्न सत्ता ही हो सकती है; और वह सत्ता ही पर ब्रह्म के नाम से जानी जाती है। इस ब्रह्म तत्त्व में बृहत्व गुण का योग भी है अर्थात् ब्रह्म स्वयं बृहत्(व्यापक या विभु) है तथा वह अन्य प्राणियों की भी वृद्धि में निमित्त है अतः उसमें दोनों ही तरह का बृहत्व विद्यमान है।

ब्रह्म के लक्षण में अनेक विशेषणों का प्रयोग होने के कारण ब्रह्म में अनेकत्व दोष प्रसक्त होने लगता है। इसका निराकरण करते हुए भाष्यकार आचार्य रामानुज का कथन है कि 'यतो वा इमानि...' आदि श्रुति वाक्यों में जगत जन्मादि विशेषणों द्वारा जिस ब्रह्म का स्वरूप लक्षण प्रस्तुत किया गया है उसमें अनेकता दोष की प्रसक्ति सम्भव नहीं है। जब कोई लक्षण विशेषण के रूप में प्रयुक्त होकर किसी लक्ष्य को लक्षित करता है तो वह अविरुद्ध विशिष्ट वस्तु को ही लक्षित करता है। जैसे- नील: घट: इस उदाहरण में नील विशेषण है तथा वह अन्य वस्तुओं से अविरुद्ध घट को ही लक्षित कर रहा है। इसी प्रकार यदि किसी लक्ष्य को लक्षित करने के लिए एक से अधिक विशेषणों का भी प्रयोग किया जाय तो वे सभी विशेषण भी उसी अज्ञात वस्तु में बिना किसी विरोध के समन्वित होकर उसी एक विशेष्य को लक्षित करते हैं। इस प्रकार की बहुविशेषणात्मक लक्षणता अर्थात् ऐसा लक्षण जो अनेक विशेषणताओं से युक्त होता है, वह प्रतिपाद्य या लक्ष्य वस्तु में विभिन्नता की प्रतीति नहीं उत्पन्न करता है। चूँकि इन सभी विशेषणों का आश्रय एक ही होता है अतः वे सभी विशेषण मिलाकर उसी एक विशेष्य या लक्ष्य की प्रतीति कराते हैं। यथा- 'सुन्दर: क्रियावान् बालक: गच्छति' अर्थात् सुन्दर एवं क्रियाशील बालक जा रहा है। यहाँ सुन्दर एवं क्रियाशील ये दोनों विशेषण बालक को ही लक्षित कर रहे हैं। इसी प्रकार ब्रह्म के लक्षण में प्रयुक्त जन्मादि अनेक विशेषण भी परस्पर समन्वित होकर एक ब्रह्म का ही बोध कराते हैं। इन सभी विशेषणों का एक ही आश्रय है और वह ब्रह्म ही है अतः विशेषणों की एकाश्रयता प्रतीति से सभी विशेषणों का एक विशेष्य में ही समन्वय हो जाता है।

पूर्वपक्ष ने जो यह दृष्टान्त दिया था कि 'षण्डो मुण्ड: पूर्णश्रृंगौ गौ:' अर्थात् पूँछ से युक्त मुण्डित तथा बड़ी-बड़ी सींगों वाली गौ होती है। यहाँ गौ के दो विशेषण 'षण्ड –मुण्डत्व तथा पूर्णश्रृंगत्व' दिए गए हैं अर्थात् (i) जो षण्ड, मुण्ड है वह गाय है तथा (ii) जो पूर्णश्रृंग है वह गाय है। इन दो विशेषणों के कारण दो गायों की प्रतीति हो रही है क्योंकि विशेषण का कार्य ही पृथक् करना होता है। इसके उत्तर में आचार्य कहते हैं कि षण्ड, मुण्ड आदि विशेषण तो उन व्यक्तियों में भेद की प्रतीति करा सकते हैं क्योंकि उनमें काल का कोई भेद नहीं है। किन्तु जगत के जन्मादि विशेषणों में तो काल की भिन्नता विद्यमान है क्योंकि जगत की उत्पत्ति का काल, स्थिति का काल तथा प्रलय का काल भिन्न-भिन्न है इसलिए 'यतो वा इमानि...' तथा 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' आदि श्रुति वाक्यों द्वारा उपलक्षित ब्रह्म के लक्षण में कोई विरोध नहीं है।

पूर्वपक्ष का मत है कि 'यतो वा इमानि...' तथा 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' आदि श्रुति वाक्य ब्रह्म के स्वरूप लक्षण को प्रस्तुत करते हैं। यदि इन दोनों ही वाक्यों को एक दूसरे का उपलक्षण स्वीकार किया जायेगा तो उनमें अन्योन्याश्रय दोष की प्रसक्ति होगी। इस दोष के कारण इन दोनों ही वाक्यों में प्रतिपादित लक्षणों से ब्रह्म के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान नहीं होगा।

इसके उत्तर में आचार्य का कथन है कि 'यतो वा इमानि...' इस प्रथम श्रुति वाक्य के द्वारा ब्रह्म को सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय का कारण प्रतिपादित किया गया है। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इस श्रुति वाक्य के द्वारा ब्रह्म की अन्य सांसारिक पदार्थों से विलक्षणता बतलाई गयी है। इस श्रुति में प्रयुक्त 'सत्य' पद ब्रह्म की शुद्धता को द्योतित करते हुए यह व्यक्त करता है कि ब्रह्म निरुपाधिक है। ब्रह्म में किसी प्रकार की कोई उपाधि विद्यमान नहीं है। अतः उसकी सत्ता स्वाभाविक है। ब्रह्म को निरुपाधिक इसलिए कहा गया है क्योंकि उपाधि के आ जाने वस्तु में परिच्छिन्नता आ जाती है। यही सत्य पद का अभिप्राय है। ब्रह्म विकारवान अचेतन पदार्थों तथा उससे सम्बद्ध चेतन सत्ताओं से पृथक् है। इसी सत्य पद के प्रयोग से अचेतन पदार्थों तथा उससे सम्बद्ध चेतन सत्ताओं के ब्रह्मत्व का भी प्रतिषेध हो जाता है क्योंकि ये दोनों प्रकार की सत्ताएं विभिन्न नामों की मूलकारण तथा विभिन्न अवस्थाओं वाली होती हैं। इसी कारण से इनमें उपाधि का संयोग होता है अतः ये निरुपाधिक नहीं हो सकते हैं। सत्य पद असत्य का प्रतिषेध करता है।

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इस श्रुति वाक्य में प्रयुक्त 'ज्ञान' पद का तात्पर्य व्यक्त करते हुए आचार्य कहते हैं कि ज्ञान नित्य, विकसित तथा अद्वैत विशिष्ट ज्ञान का द्योतक है। इस लक्षण के प्रयोग से ब्रह्म की मुक्त पुरुषों से भिन्नता सूचित हो जाती है क्योंकि मुक्त पुरुषों का ज्ञान संकुचित होता है जबकि ब्रह्म का ज्ञान नित्य होता है। मुक्त पुरुष पहले बद्ध होते हैं इसलिए उनका ज्ञान संकोच-विस्तार से युक्त होता है किन्तु ब्रह्म स्वभावत: ज्ञानस्वरूप है। ज्ञान पद से जड़ता का प्रतिषेध होता है।

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इस श्रुति वाक्य के 'अनन्त' पद की व्याख्या करते हुए आचार्य कहते हैं कि अनन्त शब्द देश, काल एवं वस्तु की अपरिच्छिन्नता को व्यक्त करता है। इस संसार में जितनी वस्तुएं हैं वे सभी किसी न किसी देश में स्थित होती हैं, यही उनकी देश परिच्छिन्नता है। इसी तरह प्रत्येक वस्तु काल से विशिष्ट होती है जिससे उसकी काल परिच्छिन्नता सूचित होती है। प्रत्येक वस्तु अन्य वस्तुओं से पृथक् होती है, यही उसकी वस्तु परिच्छिन्नता है। ब्रह्म विभु एवं सर्वव्यापक है इसलिए वह देश, काल एवं वस्तु की सीमाओं में बद्ध नहीं होता है; यही ब्रह्म की अनन्तता है।

विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त का ख्यापन करते हुए आचार्य कहते हैं कि ब्रह्म का स्वरूप सगुण है। इसी विशेषता के कारण ब्रह्म गुण और स्वरूप दोनों ही दृष्टियों से अनन्त है। सगुण पद के प्रयोग से पूर्वोक्त ज्ञान एवं सत्य पदों से प्रतिषिद्ध दो अंशों(असत्य एवं जड़) से भी विलक्षण, सातिशय, नित्यस्वरूप और स्वगुण का भी प्रतिषेध हो जाता है। विशेषण का यह स्वभाव होता है कि वह अन्यों का व्यावर्तक होता है तथा उनकी इतर भेदक के रूप में ही प्रवृत्ति होती है। इसलिए 'यतो वा इमानि...' तथा 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इन दोनों श्रुतियों में प्रतिपादित ब्रह्म का लक्षण अन्योन्याश्रय दोष से दूषित नहीं है। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इस श्रुति में प्रतिपादित सत्यस्वरूप, ज्ञानस्वरूप एवं अनन्त ब्रह्म ही जगत के जन्म, स्थिति एवं लय का कारण होता है। अतः ब्रह्म के इन दोनों लक्षणों में प्रयुक्त विशेषणों में परस्पर अन्योन्याश्रयता नहीं है। निष्कर्षत: ब्रह्म समस्त जगत का जन्मादि कारण, निर्दोष, सर्वज्ञ, सत्यसंकल्प तथा सर्वशक्तिमान है।

अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म को निर्गुण एवं निर्विशेष माना जाता है। उनके अनुसार ब्रह्म निर्गुण ही होता है क्योंकि यदि हम ब्रह्म को सगुण स्वीकार कर लें तो ब्रह्म में द्वैत की आपत्ति प्रसक्त हो जाएगी। लोक में हम देखते हैं कि गुण एवं गुणी परस्पर भिन्न होते हैं। गुण यद्यपि गुणी में रहता

है परन्तु वह गुणी से अभिन्न नहीं होता है। ब्रह्म यदि सगुण होगा तो उसके गुण उससे भिन्न ही मानने होंगे किन्तु ऐसा मानने पर अद्वैत सिद्धान्त ही बाधित होने लगता है क्योंकि अद्वैत का अर्थ ही द्वैत का निषेध या अभाव है। अद्वैत वेदान्ती अपने मत के समर्थन में 'नेह नानास्ति किञ्चन' इत्यादि श्रुति वाक्यों को भी उदधृत करते हैं जिसमें द्वैत का अभाव निरुपित किया गया है।

जन्माद्यस्य यतः (ब्रह्मसूत्र 1.1.2, श्रीभाष्य)

आचार्य रामानुज का कथन है कि यदि हम निर्विशेष ब्रह्म के सिद्धान्त को स्वीकृत कर लें तो ब्रह्मसूत्र के क्रम एवं उसके अर्थ को समन्वित करने में समस्या आने लगती है। महर्षि बादरायण प्रणीत ब्रह्मसूत्र का प्रथम सूत्र है –'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' जिसका अर्थ है जब जिज्ञासु वेदाध्ययन करता है तो उसे कर्मों की अल्पफलता तथा क्षयशीलता का बोध हो जाता है एवं उत्तरमीमांसा (उपनिषदों) के अध्ययन से ब्रह्मज्ञान रूप फल की नित्यता तथा अक्षयता का भी बोध हो जाता है। अतः उसे यह स्पष्ठ हो जाता है कि अनन्त एवं अक्षय फललाभ के लिए ब्रह्म की ही जिज्ञासा करनी चाहिए। इसके बाद द्वितीय सूत्र है-'जन्माद्यस्य यतः' जिसके अनुसार जिससे जगत की उत्पत्ति, स्थिति एवं लय होते हैं, वही ब्रह्म है। इस सूत्र में उत्पत्ति आदि धर्मों के कर्त्ता के रूप से ही ब्रह्म का स्वरूप निरुपित किया गया है तथा उसे ही प्रथम सूत्र में जिज्ञास्य बतलाया गया है। किन्तु ब्रह्म को निर्विशेष स्वीकार करने पर इन दोनों सूत्रों में समन्वय सम्भव ही नहीं है। अद्वैत के निर्विशेष ब्रह्म के सिद्धान्त को स्वीकार करने पर तो 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' सूत्र के पश्चात 'जन्माद्यस्य यतः' सूत्र का पाठ भी नहीं सम्भव है क्योंकि बृहत्व गुण से विशिष्ट ब्रह्म को ही जगत का जन्मादि कारण कहा जाता है। इसी प्रकार से अन्य सूत्रों तथा श्रुतिवाक्यों में भी समन्वय बाधित होने के कारण निर्विशेष ब्रह्म को प्रमाण नहीं स्वीकार किया जा सकता है।

यदि पूर्वपक्ष यह कहे कि ब्रह्म की सत्ता को तर्क के द्वारा भी सिद्ध किया जा सकता है अर्थात् जन्मादि का कारणभूत जिसे कहा जा सकता है तर्कत: वह ब्रह्म ही हो सकता है। इसका खण्डन करते हुए आचार्य रामानुज कहते हैं कि तर्क के द्वारा उसी वस्तु के अस्तित्व को सिद्ध किया जा सकता है जहाँ साधन या हेतु साध्य या प्रतिपाद्य विषय में रहने वाले धर्म से रहित नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि तर्क का विषय भी कोई सविशेष वस्तु ही हो सकती है क्योंकि निर्विशेष वस्तु में कोई धर्म रहता ही नहीं है। अतः निर्विशेष ब्रह्म के स्वरूप को तर्क के द्वारा भी स्थापित नहीं किया जा सकता है।

पूर्वपक्ष का तर्क है कि हमारे मत में जगत की उत्पत्ति आदि धर्म वास्तविक नहीं हैं अपितु वे भ्रम स्वरूप हैं, अतः उनके वास्तविक न होने के कारण जगत्कारणत्व भी वास्तविक नहीं है। इससे ब्रह्म के निर्विशेष स्वरूप की सिद्धि में कोई बाधा नहीं होती है। जैसा कि विदित है कि अद्वैत सिद्धान्त में एकमात्र ब्रह्म की सत्ता को ही पारमार्थिक स्वीकार किया जाता है। उनका उद्घोष है कि 'ब्रह्म सत्यं जगन्नमिथ्या' अर्थात् ब्रह्म ही सत् है तथा जगत मिथ्या है। चूँकि जगत मिथ्या है अतः उसकी वास्तविक उत्पत्ति होती ही नहीं है। अद्वैत वेदांती जगत को ब्रह्म का विवर्त मानते हैं।

इसके प्रत्युत्तर में आचार्य रामानुज का कथन है कि जिससे जगत का जन्मादि भ्रम होता है, वह ब्रह्म है ऐसा स्वीकार करने पर भी निर्विशेष ब्रह्म की सिद्धि नहीं हो सकती क्योंकि यह लोक में अनुभव सिद्ध है कि भ्रम सदैव अज्ञानमूलक होता है और अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म को अज्ञान का साक्षी माना जाता है।

आचार्य का पुनः कथन है कि प्रकाश या अज्ञान का अभाव ही साक्षित्व है। आशय यह है कि ब्रह्म स्वयं प्रकाश रूप है तथा उसके प्रकाश से ही समस्त सृष्टि प्रकाशित होती है। 'ज्योतिषां ज्योति:' तथा 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' इत्यादि श्रुति वाक्यों से यह बात प्रमाणित होती है। प्रकाश रूप होने के कारण अज्ञान का निस्तारक भी होता है, इसीलिए ब्रह्म को साक्षी कहा जाता है। प्रकाशकता के सम्बन्ध में हमारा अनुभव है कि यह जड़ वस्तु से विरुद्ध होती है एवं स्वतः तथा अन्य वस्तुओं की व्यवहारयोग्यता की नियामक होती है। प्रकाश न केवल स्वयं को प्रकाशित करता है अपितु वह अन्य वस्तुओं को भी प्रकाशित कर देता है और तभी हम उन वस्तुओं से व्यवहार कर पाते हैं। यथा- सूर्य न केवल स्वयंप्रकाश है अपितु वह अन्यों को भी प्रकाशित करता है। ऐसे प्रकाशमान ब्रह्म में सविशेषता स्वीकार करना ही उचित है क्योंकि सविशेष स्वीकार करने पर ही उसका ज्ञान होना सम्भव है। पुनः ब्रह्म को निर्विशेष मानने पर तो उसमें प्रकाशता भी नहीं हो सकती है क्योंकि वह विशेषण के रूप में ब्रह्म से सम्बद्ध होती है। यदि ब्रह्म को प्रकाशस्वरूप न स्वीकार किया जाय तो तुच्छ होने के कारण वह मिथ्या सिद्ध हो जायेगा। अतः यह सिद्ध हो जाता है कि ब्रह्म सविशेष ही होता है।

8.3 सारांश

भाष्यकार आचार्य रामानुज के अनुसार वेदाध्ययन के पश्चात् जिज्ञासु को यह बोध होता है कि केवल कर्मज्ञान का फल अल्प एवं अस्थिर होता है जबकि ब्रह्मज्ञान का फल अनन्त एवं स्थिर होता है। नित्य फल की प्राप्ति हेतु साधक को ब्रह्मजिज्ञासा करनी चाहिए। 'ब्रह्म' शब्द पुरुषोत्तम का वाचक है जो कि स्वभावत: समस्त दोषों से रहित, सीमातीत और असंख्य कल्याणगुणों के सागर हैं। ब्रह्म शब्द बृह् वृद्धौ धातु तथा बृंहु उपबृहंणे धातु से मनिन प्रत्यय के योग से निष्पन्न होता है जो मुख्यार्थवृत्ति के द्वारा भगवान् नारायण को ही द्योतित करता है।

'जन्माद्यस्य यतः' सूत्र के अनुसार इस सृष्टि की उत्पत्ति, सृष्टि की स्थिति अर्थात् उसका पालन-पोषण तथा नाश अर्थात् प्रलय जिससे होते हैं, वही ब्रह्म है ।तैत्तिरीय उपनिषद का भी वचन है- **'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद् विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म'** अर्थात् यह सम्पूर्ण भूत-भौतिक समुदाय जिससे उत्पन्न होता है, जिसके आधार पर स्थित रहता है तथा मृत्यु के उपरान्त जिसमें लीन हो जाता है, उसी को जानने की इच्छा करो, वही ब्रह्म है।

पूर्वपक्ष का अभिमत है कि इस सूत्र तथा श्रुतिवाक्य के आधार पर ब्रह्म को नहीं जाना जा सकता है क्योंकि इस श्रुति में जन्म आदि विशेषणों से युक्त जिस ब्रह्म का उपाख्यान किया गया है उसको स्वीकार करने पर परब्रह्म में अनित्यता तथा संसारित्व दोषों की प्रसक्ति होने लगेगी। जन्म, स्थिति एवं मृत्यु आदि गुण अनित्य होते हैं और किसी संसारी प्राणी का ही धर्म होते हैं। यदि इन गुणों को ब्रह्म का विशेषण बनाया जायेगा तो ये ब्रह्म के स्वरूप से संयुक्त हो जाएंगे और उसमें अनित्यत्व और संसारित्व की सिद्धि करने लगेंगे। इसके साथ ही 'अनेकत्व' नाम का एक और दोष ब्रह्म में प्रसक्त होने लगेगा।

सिद्धान्त पक्ष एक अन्य श्रुति वाक्य को प्रस्तुत करके उपरोक्त आक्षेप का खण्डन करके उपलक्षण के पक्ष का समर्थन करता है। वह श्रुति वाक्य है- 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' अर्थात् ब्रह्म सत्यस्वरूप, ज्ञानस्वरूप एवं अनन्त है। इस श्रुति वाक्य में जिस ब्रह्म के स्वरूप को निरुपित किया गया है वह 'यतो वा इमानि....' इस श्रुति वाक्य में निरुपित ब्रह्म के जगत्कारण लक्षणों

(जन्मादि) का उपलक्षण है। आशय यह है कि 'जिससे इस सृष्टि की उत्पत्ति होती है, सृष्टि की स्थिति बनी रहती है तथा प्रलय में सृष्टि जिसमें लय को प्राप्त हो जाती है, वही ब्रह्म है; इस लक्षण वाक्य में निरुपित ब्रह्म ही सत्यस्वरूप, ज्ञानस्वरूप एवं अनन्त है। अतः दोनों विशेषण एकाकार होकर ब्रह्म की एकता को सिद्ध करते हैं।

पूर्वपक्ष पुनः कहता है कि यदि इन दोनों ही वाक्यों को एक दूसरे का उपलक्षण स्वीकार किया जायेगा तो उनमें अन्योन्याश्रय दोष की प्रसक्ति होगी। इस दोष के कारण इन दोनों ही वाक्यों में प्रतिपादित लक्षणों से ब्रह्म के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान नहीं होगा। इसके उत्तर में आचार्य का कथन है कि 'यतो वा इमानि...' इस प्रथम श्रुति वाक्य के द्वारा ब्रह्म को सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय का कारण प्रतिपादित किया गया है। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इस श्रुति वाक्य के द्वारा ब्रह्म की अन्य सांसारिक पदार्थों से विलक्षणता बतलाई गयी है। आचार्य कहते हैं कि ब्रह्म का स्वरूप सगुण है। इसी विशेषता के कारण ब्रह्म गुण और स्वरूप दोनों ही दृष्टियों से अनन्त है। सगुण पद के प्रयोग से पूर्वोक्त ज्ञान एवं सत्य पदों से प्रतिषिद्ध दो अंशों(असत्य एवं जड़) से भी विलक्षण, सातिशय, नित्यस्वरूप और स्वगुण का भी प्रतिषेध हो जाता है। विशेषण का यह स्वभाव होता है कि वह अन्यों का व्यावर्तक होता है तथा उनकी इतर भेदक के रूप में ही प्रवृत्ति होती है। इसलिए 'यतो वा इमानि...' तथा 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इन दोनों श्रुतियों में प्रतिपादित ब्रह्म का लक्षण अन्योन्याश्रय दोष से दूषित नहीं है।

विशिष्टा द्वैत सिद्धान्त का प्रतिष्ठापन करते हुए आचार्य कहते हैं कि ब्रह्म गुण और स्वरूप दोनों ही दृष्टियों से बृहत् एवं अनन्त है।ब्रह्म ही समस्त जगत का जन्मादि कारण, निर्दोष, सर्वज्ञ, सत्यसंकल्प तथा सर्वशक्तिमान है।

8.4 शब्दावली

जन्म, स्थिति,लय, सर्वज्ञता, कर्तृत्व, सगुण ब्रह्म , निर्विशेष ब्रह्म, अनेकत्व दोष, अन्योन्याश्रय दोष, श्रुति, विशेषण, विशेष्य, लक्षण, लक्ष्य।

8.5 कुछ उपयोगी पुस्तकें

- श्रीभाष्यम्, संस्कृत संशोधन संसत्, मेलुकोटे, 1985
- श्रीभाष्यम्, (हिन्दी व्याख्याकार) शिवप्रसाद द्विवेदी, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 2009
- श्रीभाष्य, (हिन्दी व्याख्याकार) ललित कृष्ण गोस्वामी, निम्बार्क पीठ, प्रयाग, सं. 2030
- The Vedantasutras with the Sribhashya of Ramanujacharya, M. Rangacharya & M. B. Varadraja Aiyangar, The Brahmavadin Press, Madras, 1899

7.6 अभ्यास प्रश्न

i) 'जन्माद्यस्य यतः' में 'जन्मादि' पद का अर्थ क्या है?

ii) 'जन्माद्यस्य यतः' सूत्र में 'यतः' का विवेचन कीजिए ?

iii) विशिष्टाद्वैत के अनुसार 'ब्रह्म' का स्वरूप बताईये?

iv) ब्रह्म में सर्वज्ञता की सिद्धि कैसे होती है?

7.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

i) आचार्य रामानुज के अनुसार 'जन्माद्यस्य यतः' सूत्र के जन्मादि पद में तद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि समास है जिसके अनुसार इस पद का अर्थ है- जन्म, स्थिति एवं नाश। इस सृष्टि की उत्पत्ति, सृष्टि की स्थिति अर्थात् उसका पालन-पोषण तथा नाश अर्थात् प्रलय, इन तीनों को जन्मादि पद के द्वारा सूचित किया गया है।

ii) सूत्रस्थ 'यतः' पद जगत्कारण को सूचित करता है। इस जगत् का कारण 'ब्रह्म'है क्योंकि उसी से इस जगत् की उत्पत्ति होती है, वही इस जगत को धारण करता है तथा प्रलय के समय यह जगत उसी में लीन हो जाता है।वह ब्रह्म राग, द्वेष आदि सभी प्रकार के दोषों से रहित है। परमात्मा सत्यसंकल्प है तथा ज्ञान, आनन्द इत्यादि असंख्य कल्याण गुणों से युक्त है। वह सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान है। प्राणियों पर कृपादृष्टि रखने के कारण वह परम कारुणिक भी है। ऐसे लक्षणों से समन्वित ब्रह्म से ही इस जगत् की उत्पत्ति, स्थिति एवं प्रलय सम्पन्न होता है।

iii) ब्रह्म शब्द 'बृह् वृद्धौ' धातु तथा 'बृंहु उपबृहंणे' धातु से मनिन प्रत्यय के योग से निष्पन्न होता है जिसका अर्थ है कि जो स्वयं वृद्धिरूप है और इस संसार के अन्य प्राणियों की उपवृद्धि का निमित्त है, वही ब्रह्म है। ब्रह्म में यह वृद्धि अवधिरहित महत्त्व रूप है क्योंकि ब्रह्म में संकोच आदि का अभाव है। यह ब्रह्म की व्यापकता को लक्षित करती है अर्थात् ब्रह्म सर्वव्यापक है। इसी तरह ब्रह्म का उपबृंहण रूप इस प्रकार है कि सृष्टि में जितने भी प्राणी निकाय हैं, उनका पालन-पोषण ब्रह्म के द्वारा ही किया जाता है। कोई भी प्राणी भौतिक, आध्यात्मिक आदि किसी भी प्रकार की उन्नति को यदि प्राप्त करता है तो उन सबमें ब्रह्म की हेतुता है क्योंकि वह अन्तर्यामी के रूप से समस्त प्राणियों में विद्यमान है। इस प्रकार स्वरूप तथा गुणों के द्वारा सीमातीत और सर्वोत्कृष्ट बृहत्व जिसमें विद्यमान हो वही ब्रह्म है।

iv) ब्रह्म की सर्वज्ञता सिद्धि का तर्क प्रस्तुत करते हुए आचार्य रामानुज का कथन है कि जगत का उपादान एवं निमित्त कारण होने से ब्रह्म सर्वज्ञ सिद्ध होता है। लोक व्यवहार में यह दिखाई देता है कि घट, पट आदि कार्यों के कर्त्ता उनकी कारण सामग्री का ज्ञान रखते हैं अतः उस कार्य विशेष के संदर्भ में वे सर्वज्ञ होते हैं। इसी प्रकार सृष्टि में विद्यमान नदी, पृथिवी आदि कार्यों के कर्ता होने के कारण ब्रह्म भी सर्वज्ञ सिद्ध होता है।

इकाई 10 शास्त्रयोनित्वात् (ब्रह्मसूत्र 1.1.3, श्रीभाष्य)

10.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप :

- ब्रह्म की शास्त्रप्रमाणकता से अवगत होंगे।
- ब्रह्म के स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करेंगे।
- जगत्कारणत्व के विषय में जानकारीप्राप्तकरेंगे।
- ज्ञानप्रक्रिया से परिचित होंगे।

10.1 प्रस्तावना

आचार्य रामानुज के अनुसार 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' का तात्पर्य है कि वेदाध्ययन के पश्चात् जिज्ञासु को यह बोध होता है कि केवल कर्मज्ञान का फल अल्प एवं अस्थिर होता है जबकि ब्रह्मज्ञान का फल अनन्त एवं स्थिर होता है। इसी अक्षय फल की प्राप्ति हेतु साधक को ब्रह्मजिज्ञासा करनी चाहिए। 'ब्रह्म' शब्द पुरुषोत्तम का वाचक है जो कि स्वभावत: समस्त दोषों से रहित, सीमातीत और असंख्य कल्याण गुणों के सागर हैं। ब्रह्म शब्द बृह् वृद्धौ धातु तथा बृंहु उपबृहंणे धातु से मनिन प्रत्यय के योग से निष्पन्न होता है जो मुख्यार्थवृत्ति के द्वारा भगवान् नारायण को ही द्योतित करता है।

ब्रह्म ही सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति एवं प्रलय के कारणभूत तत्त्व हैं। इस संसार में जितने भी प्रकार के प्राणिवर्ग हैं चाहे वे मनुष्य हों, पशु हों, पक्षी हों अथवा जड़ वस्तुएं हों; उन सभी की उत्पत्ति ब्रह्म के द्वारा ही होती है। ब्रह्म ही इस जगत का स्थितिकारण है। सभी उत्पन्न होने वालों का पालन-पोषण भी उन्हीं भगवान् के द्वारा किया जाता है। भगवान् अन्तर्यामी रूप में, अवतारों के रूप में, लोकपाल रूप में, राजा के रूप में तथा माता-पिता आदि अनेक रूपों में जगत का पालन करते हैं। जब इस सृष्टि का नाश होता है तो यही भगवान् उन्हें अपने भीतर समाहित कर लेते हैं अर्थात् इस सृष्टि की उत्पत्ति, इसकी सत्ता तथा इसका नाश उन्हीं नारायण के द्वारा सम्पादित किया जाता है।

ऐसे जगत्कारण ब्रह्म की सत्ता में शास्त्र ही एकमात्र प्रमाण हैं। अतीन्द्रिय होने के कारण ब्रह्म प्रत्यक्षादि प्रमाणों का विषय नहीं होता है। अतः यदि उसके स्वरूप का यथार्थबोध करना हो तो उस विषय में उपनिषद् तथा वेदान्तशास्त्र ही प्रमाणभूत हैं।

10.2 शास्त्रयोनित्वात् (1.1.3)

अर्थ: ब्रह्म को वेदान्तैक वेद्य मानना चाहिए, क्योंकि ब्रह्म में शास्त्र ही केवल निर्बाध प्रमाण हैं।

यह सूत्र ब्रह्मसूत्र के प्रथम अध्याय के प्रथम पाद का द्वितीय सूत्र है। इसमें यह स्पष्ट किया गया है कि ब्रह्म को केवल शास्त्र के द्वारा ही जाना जा सकता है।अत:शास्त्र ही ब्रह्म में एकमात्र प्रमाण है। विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के अनुसार ब्रह्म ही जगत् की उत्पत्ति, स्थिति एवं प्रलय के कर्त्ता हैं और यह तथ्य श्रुतियों से प्रमाणित होता है। पूर्वपक्ष न्यायादि दर्शन का कहना है कि ईश्वर को अनुमेय मानना चाहिए, वेदान्त वेद्य नहीं।आचार्य इसका निराकरण करते हैं कि शास्त्र व्यतिरिक्त अनुमानादि प्रमाणों से जगत्कारणत्व को नहीं जाना जा सकता है। इस विषय में शास्त्र ही एकमात्र प्रमाण हैं।

'शास्त्रयोनित्वात्' इस सूत्र की व्याख्या करते हुए शङ्कराचार्य ने शास्त्रयोनि शब्द में षष्ठीतत्पपुरुष समास मानकर 'शास्त्रस्ययोनि: शास्त्रयोनि: तस्य भावस्तमात्' यह विग्रह माना है। परन्तु भगवत्पाद श्रीरामानुजाचार्य शास्त्रयोनि: शब्द में बहुव्रीहि समास मानते हैं।उनके अनुसार 'शास्त्रं यस्य योनिः कारणं, प्रमाणं तस्यभावः शास्त्रयोनित्वम् तस्मात् शास्त्रयोनिवात्'। अर्थात् चूंकि शास्त्र ही जिसका योनि है, अर्थात् कारण या प्रमाण है, उसी ब्रह्म को शास्त्रयोनि कहेंगे तथा उसके भाव को शास्त्रयोनित्व कहेंगे।

पुनः 'अत्यन्तातीन्द्रियत्वेन' इत्यादि शब्द की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि ब्रह्म अत्यन्त अतीन्द्रिय है अतः वे प्रत्यक्षादि प्रमाणों के विषय नहीं बनते हैं। प्रत्यक्षादि प्रमाण तो इन्ही विषयों को अपना विषय बनाते हैं जो अत्यन्त अतीन्द्रिय नहीं होते हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्धादि गुणों से रहित होने के कारण ब्रह्म का इन्द्रियों से कोई सम्बन्धसम्भव न होने से उसे अतीन्द्रिय माना जाता है अर्थात् उसका प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता है। यदि कोई यह कहे कि प्रत्यक्ष सम्भव न होने पर अनुमान प्रमाण से ब्रह्म का ज्ञान किया जा सकता है तो आचार्य का कथन है कि उसका कोई लिङ्ग (पहचान) उपलब्ध नहीं है अतः ब्रह्म अनुमेय भी नहीं है। इस प्रकार ब्रह्म न तो प्रत्यक्ष और न ही अनुमान प्रमाण का विषय बन सकता है, इसी कारण ब्रह्म में शास्त्र प्रमाण को ही स्वीकार करना पड़ता है।

आचार्य इसी के प्रमाणीकरण हेतु एक श्रुति प्रस्तुत करते हैं कि- 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद् ब्रह्म'। (तैत्तीरीयो०) अर्थात् - इस ब्रह्मके विषय में यह शङ्का नहीं कीजासकती कि ब्रह्म के स्वरूप का ज्ञान इसके द्वारा नहीं हो सकता, क्योंकि जन्माद्यधिकरण में इस बात को प्रतिपादित किया जा चुका है कि जन्मादि को ब्रह्म का चाहे उपलक्षण माना जाय अथवा विशेषण दोनों ही प्रकार से जगज्जन्मदि ब्रह्म के लक्षण बनते हैं।

पूर्वपक्षीयह प्रश्न उपस्थापित करता है कि सिद्धान्ती ब्रह्म को शास्त्रैकवेद्यनहीं कह सकते हैं क्योंकि ब्रह्म को दूसरे प्रमाणों के द्वारा भी जाना जा सकता है। उन प्रमाणों में प्रत्यक्ष प्रमाण तथा उनके भेदों तथा अनुमान प्रमाण के भेदों को भी तात्पर्यतः ब्रह्म ज्ञान में कारण माना जा सकता

है ।पूर्वपक्षी के इस प्रश्न पर मीमांसक कहते हैं यदि ब्रह्म प्रमाण वेद्य है तो उसमें कौन सा प्रमाण है ? यदि प्रत्यक्ष प्रमाण कहें तो अपने भेदों सहित भी प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं हो सकता। इन्द्रियजन्य तथा यौगिक के भेद से प्रत्यक्ष दो प्रकार का होता है। पुनः इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष भी बाह्य एवं आभ्यन्तर प्रत्यक्ष के भेद से दो प्रकार का है। उनमें बाह्येन्द्रियाँ उन्ही विषयों का ज्ञान कराती हैं जो देश, काल तथा स्वभाव सन्निकर्ष से युक्त होती हैं। बाह्य इन्द्रियाँ सर्वदा सन्निहित और ग्रहणयोग्य विषयों का ही प्रत्यक्ष ज्ञान कराती हैं । इसी सन्निकर्ष के अभाव के कारण ही धर्माधर्मादि का चक्षुरादि इन्द्रियों से प्रत्यक्ष नहीं होता है। अतः बाह्येन्द्रियाँ सभी वस्तुओं के साक्षात्कार एवं उनका निर्माण करने में समर्थ पुरुष विशेष (ईश्वर) विषयक ज्ञान को उत्पन्न नहीं कर सकती है।

पुन: योगज प्रत्यक्ष से भी ईश्वर का ज्ञान ही हो सकताहै क्योंकि- भावना के प्रकर्ष की अंतिम सीमा पर उत्पन्न होने वाले उस योगज प्रत्यक्ष के विशद प्रतीत रूप होने पर भी चूंकि उसके विषय केवल पूर्वानुभूत विषयही होते हैं, अतः वह स्मृति स्वरूप है तब तो स्मृति कोई प्रमाण नहीं होती ।इसीलिए उसकी प्रामाणिकता भी असिद्ध है।

यदि यह कहें कि योगज प्रत्यक्ष का विषय पूर्वानुभूत विषयों के अतिरिक्त विषय भी होते हैं तो वह भी प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं हो सकता क्योंकि कारण का अभाव है। प्रत्यक्ष का कारण इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष होता है, परन्तु अनुभूत विषय का तो इन्द्रिय से सन्त्रिकर्ष होता नहीं अतएव वह प्रत्यक्ष कहा ही नहीं जा सकता, बल्कि पूर्वानुभूत होने से भ्रम मात्र है।

पुनः अनुमान प्रभाण तथा उनके भेदों से भी ईश्वर की असिद्धता का कारण प्रस्तुत करते हैं कि वह परम् ब्रह्म अत्यन्त अतीन्द्रिय है अत: विशेषतोदृष्ट अनुमान का विषय नहीं है। सर्व पदार्थ उत्पादक परमब्रह्म स्वयं समर्थ है, उसमें सामान्यतोदृष्ट कोई लिङ्ग उपलब्ध नहीं हो सकता अतएव ब्रह्म में सामान्यतो दृष्ट अनुमान भी प्रमाण नहीं है।

नैयायिकों का मत है कि जगत् कार्य है अत: उसका कोई न कोई उपादानकारण,उपकरण, सम्प्रदान (भोक्ता) तथा उसके प्रयोजन का ज्ञाता कर्ता अवश्य होगा क्योंकि जितने भी कार्य हैं वह इसी प्रकार के ही होते है। जैसे- घट रूपी कार्य का कर्ता कुलाल (कुम्हार) है ।अतःजगत् की उत्पति के कर्ता रूप में ईश्वर का अनुमान किया जा सकता है।

पुनःपूर्वपक्ष एक मत प्रस्तुत करता है कि जगत् अचेतन द्र्व्य से बना है और प्रायः ऐसा द्रव्य किसी चेतन के अधीन अवश्य होता है इसी प्रकार यह जगत् अचेतन है तो इसके निर्माता आदि चेतन की अपेक्षा से भी ईश्वर का जगत् अधिष्ठाता होना सिद्ध हो जाता है। पूर्वपक्षी अपना मत सुदृढ़ करता है कि जगत् का कार्यत्व तो अचेतन द्रव्यारब्धत्व हेतु के भी द्वारा सिद्ध है अतएव सावयत्व हेतु के द्वारा जगत के कार्यत्व को सिद्ध करने पर सिद्धसाधनता नामक दोष हेतु में होगा, इस तरह सिद्ध होता है कि ईश्वर अनुमेय है।

पूर्वपक्ष के ऐसा कहने पर सिद्धान्त्येक देशी मीमांसक उसका परिहार करते हुए कहते हैं कि - नैयायिकों ने कहा कि अचेतन से आरब्ध होने वाला कार्य किसी चेतन के अधीन होता है। इसका अर्थ क्या है? उसका अर्थ हैं एक चेतन के अधीन ही उस कार्य की उत्पत्ति तथा स्थिति होना। परन्तु ऐसा नहीं माना जा सकता क्योंकि यह तथ्य दृष्टान्तहीन है। पूर्वपक्षी ने निरोग शरीर को इसके दृष्टान्त रूप से प्रस्तुत किया है परन्तु देखा जाता है कि शरीरोत्पत्ति तथा उसकी स्थिति एक चेतन के अधीन नहीं होती बल्कि अदृष्ट(धर्माधर्म) के कारण होती है। प्राणियों का

अदृष्ट जब तक समाप्त नहीं हो जाता तब तक उस शरीर की स्थिति बनी रहती है, अतएव शरीर के एक चेतनाधीन होने की सिद्धि नहीं हो सकती है।

पुनः न्याय के समानतन्त्र वैशेषिक को उत्तर देते हैं कि वैशेषिक जो यह कहते है कि शरीर रूपी अवयव की स्थिति शरीर के अवयवों के समवाय रूप से होती है यदि ये अवयव भङ्ग हो जायें तो शरीर समाप्त हो जाता है। परन्तु अवयव समवायाधीन (समवाय के अधीन) होती है न कि ईश्वर के ।फलतः शरीर के स्थिति के लिए चेतन की कोई अपेक्षा नहीं है यहाँ पर मीमांसक ने न्याय के पूर्व पक्ष खण्डन हेतु वैशेषिक का आश्रय लिया है और भी यदि नैयायिक यह कहें कि यहाँ पर स्थिति का अर्थ पञ्चवृत्तियों से युक्त प्राणों से युक्त रहना है। शरीर जब तक प्राण से युक्त रहता है तब तक चेतन रहता है, तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि इस अनुमान का पक्ष जगत् है। किन्तु जगत् में ही विद्यमान मही, महीधर, जलार्णव आदि में प्राणनलक्षण की स्थिति नहीं पायी जाती है। अतः नैयायिकों द्वारा उपस्थापित अनुमान के पक्ष, मही, महीधर जलार्णव आदि तथा सपक्ष निरोग शरीर इन दोनों में जगत् में एक स्वरूप की स्थिति नहीं पायी जाती है।

यदि यह कहें कि एक चेतनाधीनत्व का अर्थ एक चेतन के अधीन प्रवृत्ति होना है तो यह भी ठीक नहीं क्योंकि किसी भी विशालकाय शिलाखण्डादि में चेतनत्व की प्रतीति तभी होती है जब अनेक चेतन मिलकर उसको गतिमान करने का प्रयास करते हैं। इस प्रकार नैयायिकों का यह मत भी ठीक नहीं और यदि एक चेतनाधीनत्व के स्थान पर मात्र चेतनाधीनत्व को स्वीकार करें तो यह मेरा भी सिद्धान्त है, ऐसा मीमांसक कहते हैं। ऐसा नैयायिक यदि मानते हैं तो सिद्धसाध्यता दोष होगा ।पुनः मीमांसक इस सिद्धसाध्यता दोष को स्पष्ट करते हैं कि मीमांसक मतानुसार जगत् का कर्ता, जीवों को माना जाता है, आप (नैयायिक) भी चेतन को ही जगत रूपी कार्य का कर्ता मानते हैं। अतएव लाघव होने से जीव को ही कर्ता आप को भी मान लेना चाहिए। तत्त्वान्तर ईश्वर को जगत्कर्ता स्वीकार करने की कोई आवश्यकता नहीं है।

लोक में भी देखा जाता है, जितने भी घटपटादि कार्य हैं उनका कर्ता जीव ही होता है। ईश्वर जगत् का कर्त्ता नहीं है क्योंकि जीव का कर्तृत्व क्लृप्त है तथा ईश्वर का कर्तृत्व कल्प है। कल्प और कर्तृत्व में विरोध होने पर क्लृप्त को स्वीकार करना चाहिए। यही लाघव का नियम है।

पुनः मीमांसक अपना पक्ष दृढ़ करता है कि चूंकि जीव जगत् रूपी कार्य के उपादानकारण, उपकरण, सम्प्रदान तथा प्रयोजन के ज्ञाता नहीं हो सकते है अतःजीवों को जगत्कर्ता नहीं माना जा सकता, नैयायिक ऐसा नहीं कह सकते हैं। क्योंकि सभी जीव चेतन होते हैं और वह चेतन पृथिवी तथा यागादिका उपकरण एवं जगत्का उपादान कारण बन सकता है।

यदि यह कहें कि धर्म तथा अधर्म आदि का साक्षात्कार नहीं किया जा सकता है अतएव मीमांसक यागादिजन्य धर्मादि का साक्षात्कार में समर्थ जीवों को जगत्कर्ता कैसे प्रतिपादित कर सकते हैं। तो मीमांसक इस प्रश्न का उत्तर प्रस्तुत करते हुए पुनः उपकरण भूत यागादि में रहता है कि जगत् रूप कार्य के उपकरण यागादि है उसमें शक्ति रूप अदृष्ट है जिसे अपूर्व भी कहते हैं, उसका साक्षात्कार यदि जीव नहीं कर सकता तो भी उसे जगत्कर्ता जानने में कोई अनुपपत्ति नहीं है। क्योंकि किसी कार्य की उत्पत्ति के लिए उपकरण की शक्ति का ज्ञानमात्र अपेक्षित होता है, शक्ति का साक्षात्कार नहीं। जैसा कि लोक में देखा जाता हैकि कुंभकार आदि जितने कर्ता हैं वे जिस तरह के कार्य का साक्षात्कार करते हैं उसी तरह का घटादि कार्य निर्माण प्रारम्भ नहीं करते, उन्हें इन उपकरणों के शक्ति का ज्ञान मात्र रहता है।

इस जगत्कार्य के निर्माण हेतु जीवों को आगमों के द्वारा यागादि के शक्ति विशेष का ज्ञान रहता है। अतएव उनके द्वारा जगत्कार्य का आरंभ अनुपपन्न नहीं है। मीमांसक नैयायिकों के द्वारा जगत् को कार्य मानकर उसके कर्ता रूप में ईश्वर का अनुमान करने पर उनके कार्यत्व हेतु को सिद्ध साधनता दोष युक्त बता कर पुनः उसी हेतु को सोपाधिक सिद्ध करते हुए कहते हैं कि कार्य वही कहलाता है, जिसे करना संभव हो सके तथा जिसके उपादानादि कारणों को जाना जा सके। जिस तरह घट तथा माणिक इत्यादि कार्य हैं तथा उनके उपादान तथा उपकरणादि को जाना जा सकता है। इस तरह के कार्यों को देखकर उसके कर्ता रूप से किसी चेतन का अनुमान किया जा सकता है क्योंकि ये शक्य कर्त्ता के द्वारा क्रियमाण हैं।किन्तु मही, महीधर, महार्णव आदि तो अशक्यक्रिय हैं। इनके उपादानादि को कोई नहीं जान सकता है । फलतः इन अशक्यक्रिय कार्यों को देखकर इनके कर्ता रूप से किसी चेतन की कल्पना नहीं की जा सकती हैं।

पुन: मीमांसक कहता है कि घटादि जितने भी कार्य देखे जाते हैं, उनका कर्ता अनीश्वर, अल्पज्ञ, अल्प शक्तिमान्, शरीरधारी, अनाप्तकाम, चेतन देखा जाता है।फलतः इस हेतु के द्वारा नैयायिक जिस सर्वज्ञ, सर्वेश्वर्यादि सम्पन्न पुरुष को सिद्ध करते हैं उसके विपरीत ही चेतन की सिद्धि कार्यत्व हेतु से होती है, इस तरह यह हेतु विरुद्ध नामक हेत्वाभास से ग्रस्त है।

पुनः मीमांसक नैयायिकों के संभावित प्रश्न का उद्‌भावन कर उसका समाधान उपस्थित करता है। प्रश्न है कि इस तरह तो सम्पूर्ण अनुमानों का ही उच्छेद हो जायेगा। इस पर मीमांसक कहते हैं कि - जहाँ लिङ्गी (दृष्टान्त) दूसरे प्रमाणों का विषय होता है वहाँ पर लिङ्ग (दार्ष्टान्तिक)के द्वारा उपस्थापित किए जाने वाली समस्त विशेषताओं का प्रमाणान्तर के द्वारा समन्वय होता है। जैसे- चन्द्रमा के सभी धर्म मुख में इसलिए नहीं आते कि प्रत्यक्षतः मुख आकाश में नहीं है। वह नायिका का अङ्गविशेष है,जड़ नहीं है।

ब्रह्म किसी दूसरे प्रमाण का विषय नहीं बनता। अतएव सम्पूर्ण जगत् का निर्माण करने में समर्थ लिङ्गी ब्रह्म में अन्वय तथा व्यतिरेक के द्वारा ज्ञात होने वाले निश्चित रूप से पाये जाने वाले सभी धर्मों का विशेष रूप से प्रसङ्ग होगा ही।चूंकि ईश्वर में प्रसक्त होने वाले उन (अल्पज्ञत्व, अल्पशक्तित्व) धर्मों को दूर करने वाला कोई भी दूसरा प्रमाण नहीं है । अतएव इस कार्यत्व हेतु के द्वारा ईश्वर में उन समस्त धर्मों का प्रसङ्ग होता ही है । फलतः अनुमान के द्वारा ईश्वर की सिद्धि नहीं हो सकती, अपितु ईश्वर की सिद्धि आगम को छोड़कर किसी भी दूसरे प्रमाण के द्वारा कथमपि संभव नहीं है।

जगत् के कार्यत्व का साधक सावयव आदि हेतुओं का खण्डन नहीं किया जा सकता है। क्योंकि इस सम्बन्ध में अनेक प्रकार के अनुमान अभिप्रेत हैं-

i) विवादास्पदमही, महीधरआदि कार्य हैं क्योंकि वे घटादि के समान सावयव हैं

ii) विवादास्पद पृथिवी, सागर तथा पर्वत आदि कार्य हैं, क्योंकि वे महत्त्वगुण से सम्पन्न होते हुए क्रिया आदि से युक्त हैं, घटके समान।

iii) शरीर तथा भुवनआदि कार्यहैं, क्योंकि वे उद्‌भूत महत्व होने के साथ साथ मूर्त है, घटादि के समान।

जो जो सावयव द्रव्य होते हैं उन सब मे सावयवत्व, महत्व, क्रियात्व आदि तथा मूर्तत्व आदि ही धर्म पाये जाते हैं, अन्य कोई धर्म उनमें नहीं पाया जाता है। यदि यह कहा जाय कि केवल

सावयवत्व ही कार्यत्व का प्रयोजक है, तो ऐसी बात नहीं है। अपितु कार्यत्व के लिए शक्यक्रियात्व भी हेतु रूप में उपलब्ध है अत:मानना चाहिए कि जो-जो शक्यक्रिय होता है तथा जिस जिसके उपादानादि को जाना जा सके उस उस को ही कार्य मानना चाहिए। इसमें कोई आपत्ति नहीं है।

पुनः नैयायिक, मीमांसक के प्रश्नमही, महीधर आदि को बनाने में न तो कोई समर्थ है, और न कोई यह ही जानता है कि इन सब के उपादानकारण, उपकरण, सम्प्रदान एवं प्रयोजन क्या है? इसका उत्तर देते हैं कि यह जो मीमांसक की आशंका है वह ठीक नहीं क्योंकि जिस वस्तु को अवयवसहित देखकर उसके कार्यत्व का निश्चय हो जाता है। उसके कार्यत्व हेतु के द्वारा किसी ऐसे कर्ता की अनुमान कर लेना चाहिए, जो कर्ता उन सब को करने में समर्थ हो तथा पुन: कार्यों के उपादानादि कारण को जान सकता हो, जैसे सावयव पक्षभूत घट कोदेख उसके उपादानादि के ज्ञाता कर्ता का अनुमान किया जाता है उसी तरह अन्यत्र पक्षभूत मही इत्यादि में भी होती है।अतएव उनमें (मही, महीधरादि) में भी शक्यक्रियत्व तथा शक्योपादान विज्ञानत्व ज्ञात होता ही है। तत्पश्चात् नैयायिक इस बात का उदाहरण प्रस्तुत करता है कि निर्मित घट तथा माणिक इत्यादि कार्यों को देख उसके करने वाले कर्ता का ज्ञान हो जाता है, और यह अनुमानतः होता है । यदि वह किसी विचित्र सन्निवेश से युक्त राजा के ऐसे भवन जिसको उसने कभी देखा ही नहीं था उस भवन को भी देखकर अनुमानतः यह जान लेता है कि यह भवन भी कार्य है सावयव होने से तथा यह निश्चित कर लेता है कि कोई न कोई इस भवन का ऐसा कर्ता पुरुष होगा जो इस भवन के उपादानादि के विज्ञान से सम्पन्न होगा।

अत: जब सावयवत्व हेतु के द्वारा शरीर तथा भुवनों आदि के कार्यत्व की सिद्धि हो जाती है, तो उसके कार्यत्व हेतु के ही द्वारा उनके 'निर्माण करने में समर्थ तथा उनके उपादानादि को जानने वाले कर्ता पुरुषकाअनुमान हो ही जाता है। इस तरह से नैयायिकों ने सावयवत्व हेतु के द्वारा कृति साध्य रूप कार्यत्व साध्य में शक्यक्रियत्व तथा शक्योपादानादि विज्ञानत्व रूपी उपाधि का परिहार किया । इस तरह यह सिद्ध होता है कि जो-जो उत्पन्न होता है वह वह कार्य होता है, जैसे घट ।

पुनः प्रश्न करते हैं कि दुर्वादि में तो उसके कर्ता का ज्ञान नहीं होता अतः उसको उत्पन्न करने वाला कोई चेतन नहीं, अदृष्ट को मानना चाहिए। नैयायिक उत्तर देते हैं कि जितने भी चेतन होते हैं, उनको सुखदुख रूपीफल का जो भोग प्राप्त होता है उसका कारण धर्म एवं अधर्म ही होता है। किन्तु आपके अनुसार दुर्वादि का अधिष्ठातायदि अदृष्ट को मान लिया जाय तो वह अदृष्ट अचेतन होने के साथ- साथ भोक्ता तो हो नहीं सकता, वह भोग्यमान्न हो सकता है। फलत: उसका भी अधिष्ठाताचेतन, सर्वज्ञ तथा परमपुरुष ईश्वर को ही मानना चाहिए, क्योंकि वे ही सभी कर्मों के फलप्रदानकर्ता हैं।

पुनः कहते हैं कि जब तक अचेतन बसूली इत्यादि का अधिष्ठाता बढई इत्यादि नहीं होता तब तक यूप, भवन आदि का निर्माण नहीं देखा गया है। उसी तरह से सर्वचेतन के द्वारा अधिष्ठित होकर ही धर्म तथा अधर्मजन्य अदृष्ट से फलभोगकी प्राप्तिहोती है। इसीतरह बीजांकुर को भी मानना चाहिए कि वह पक्षान्तर्गत है तथा सर्वज्ञ परमात्मा के ही संकल्प से अंकुर उत्पन्न करता है। अतएव मीमांसकों द्वारा अचेतन बीजांकुर में चेतनाधिष्ठितत्व का व्यभिचारोपपादन उनके अज्ञान का विलासमात्र है। अत: अन्यथा आक्षेप निर्मूल होता है। यदि यह कहा जाये कि चेतनाधिष्ठित ही मन सुखादि का उत्पादक होता है तो ऐसी भी बात नहीं है। कोई भी चेतन दुख

नहीं चाहता अतएव दुःखोत्पत्ति में चेतनाधिष्ठितत्व स्वीकार नहीं किया जा सकता है। इस शंका पर नैयायिकों ने समाधान प्रस्तुत किया कि परमात्माधिष्ठित ही धर्माधर्मजन्य अदृष्ट के द्वारा सुख-दुख, रोमाज्य तथा वैपथु हुआ करते हैं। क्योंकि सुख:-दुःखादि भी कार्य हैं, जो जो कार्य होता है वह वह चेतनाधिष्ठित कारण से ही उत्पन्न होता है।

'नच लाघवेनापि' के द्वारा मीमांसकपूर्वपक्ष उपस्थापित करता है कि घटपटादि का जो कारण हम मानते है वही नैयायिक भी मानते हैं। परन्तुवे महीं, महीधरादि का कर्ता सर्वज्ञ ईश्वर को मानते हैं। चेतनाधिष्ठितत्व को भी मानने में हम दोंनो (मीमांसक और नैयायिक) समान ही हैं तो चेतनाधिष्ठितत्व (कोई भी कार्य किसी चेतन तत्त्व के अधीन ही बनता) कोही सभी का कारण मानना चाहिए। सर्वज्ञ चेतन को मानने की कोई भीआवश्यकता नहीं। तब इसके उत्तर में नैयायिक कहता है कि मीमांसकों का कथन अस्वीकार्य है क्योंकि 'तेषां सूक्ष्म इत्यादि' इस बात का सभी क्षेत्रों में निश्चय है कि उनमें सूक्ष्मवस्तुओं, व्यवहित वस्तुओं तथा विप्रकृष्ट वस्तुओं का साक्षात्कार करने की शक्ति नहीं है। वे कार्यों के कारण बनने वाले अत्यन्त सूक्ष्म परमाणु का साक्षात्कार नहीं कर सकते।

लोक में देखे गये प्रकार से ही सर्वत्र कल्पना की जाती है, अतएव क्षेत्रज्ञ जीव को सभी कारणों का अधिष्ठाता नहीं माना जा सकता है। जिस प्रकार से सारी जीव की अशक्ति का निश्चय है वैसाईश्वरनहीं हैं ।वह सर्वज्ञ तथा पृथिव्यादि कार्यों के प्रति ईश्वर की अनुकूलता का खण्डन कोईभी नहीं कर सकताहै। अतएव जो-जो कार्य होता है।वहवह समर्थ कर्त्ता द्वारा ही होता है।इस तरह कार्यत्व हेतु के द्वारा स्वाभाविक रूप से सभी वस्तुओं के साक्षात्कार करने में समर्थ तथा संपूर्ण जगत् का नियमन करने में समर्थ ईश्वर से ही जगत् के कार्य सिद्ध होते हैं।

भाष्यकार कहते हैं कि मीमांसक पक्षकार जो यह कहते हैं कि कार्यत्व हेतु के द्वारा तो अल्पज्ञ, अल्पशक्तिसम्पन्न, शरीरी कर्ता की ही सिद्धि होती है, क्योंकि घटादि कार्यों का कर्ता ऐसा ही देखा जाता है तो नैयायिक कहते हैं कि ऐसा मीमांसक विद्वान् इसलिए कहते हैं कि उनको अनुमान का स्वभाव ज्ञात ही नहीं है। कारण के सपक्ष में पाये जाने वाले सभी धर्म लिङ्गी पक्ष में नहीं पाये जाते क्योंकि वे सभी धर्म कार्यत्व के हेतु नहीं होते हैं । अभिप्राय यह है कि जो कार्य जिस कर्ता से किया जाता है वही उस कर्ता में स्वयं के उत्पन्न होने के कारण के रहने की अपेक्षा रखता है। तथा उस कार्य के निर्माण के उपयोगी उपादान, उपकरणआदिकेज्ञानसे सम्पन्न हो । तथा कार्योत्पत्ति के लिए, उस कार्य से अन्य वस्तु विषयक अज्ञान तथा असामर्थ्य इसका कारण नहीं होता है ।

अपने कार्य को निर्माण करने के सामर्थ्य तथा अपने कार्य के उपादान, उपकरण, सम्प्रदान, प्रयोजन इत्यादि के ज्ञान इनदो बातों से ही यदिकार्य की उत्पत्ति संभव हो जाती है तो उस कार्य के संबंधी रूप से केवल पाये जाने मात्र से दूसरी वस्तु के विषय में अज्ञानादि को उस कार्य का हेतु मानना अन्यथासिद्ध है। अत: उसके हेतुत्व की कल्पना ठीक नहीं है ।

पुनः कुलाल आदि को क्रियमाण कार्य से भिन्न किसी दूसरी वस्तु का ज्ञानन हो ऐसी बात भी नहीं देखी जाती है। तथा उस अज्ञान को कतिपय वस्तु विषयक भी नहीं माना जा सकता कारण कि जितने भी कर्ता हैं । उनको भिन्न भिन्न कार्यों के निर्माणानुकूल सामर्थ्य तथा शक्ति के होने का कोई नियम नहीं है। फलत: ऐसा मानने से अज्ञानों का व्यभिचार होगा।

अतएव अल्पतत्व, अनीश्वरत्व, अल्पशक्तिमत्व आदि जो धर्म कुलाल आदि में पाया जाता है, वे लिङ्गी पक्षभूत (ईश्वर में) नहीं आ सकते हैं कि वे कार्यत्व के असाधक हैं।अतः मीमांसकों ने जो कार्यत्व हेतु को विरुद्ध हेतु कहा है वही उचित नहीं है।

पुन: नैयायिक कहते हैं कि मीमांसक का यह कहना उचित नहीं कि चीवरादि का घटादि का निर्माता सशरीरी ही हो सकता है क्योंकि चीवरादिका निर्माता संसार मे शशरीर देखा जाता है। इसी लिए ईश्वर को सशरीर होना चाहिए। क्योंकि अधिष्ठातृत्व के लिए सशरीरी होना अनावश्यक होता है।

नैयायिक पुनः कहता है कि यदि मीमांसक यह कहें कि संसार में देखा जाता है कि मंत्रज्ञ किसी शरीर में विद्यमान भूतप्रेतों को निकालने में मंत्र से युक्त केवल मानसिक संकल्प से ही समर्थ होते हैं। तो इसका उत्तर यह है कि संकल्प के लिए शरीर की नहीं अपितु मन की अपेक्षा होती हैं क्योंकि मन ही सङ्कल्पका हेतु है तथा उस मन का सद्भाव हम ईश्वर में भी मानते हैं।

और जिस तरह हो कार्यत्व हेतु के द्वारा जगत् कर्ता ईश्वर में ज्ञान तथा शक्ति का सद्भाव स्वीकार किया जाता है उसी तरह उस ईश्वर मेंमन का सद्भाव भी स्वीकारना चाहिए इस पर यदि मीमांसक कहें कि - 'मनसः संकल्पः' इत्यादि अर्थात जो शरीर विशिष्ट होताहैवही मानसिक सङ्कल्प करता है। अतएव शरीर विशिष्ट ही मन में सङ्कल्प करता है, शरीररहित ईश्वर नहीं। तो मीमांसक इस प्रकार की भी शंका नहीं कर सकते क्योंकि शरीरी अनित्य एवं मन नित्य पदार्थ है अतः शरीर के नए होने पर भी मन बना रहता है फलतः सशरीर ही समनस्क होते हैं यहाँ पर सशरीरत्व हेतु अनैकान्तिक हेतु है।

अतः यह विचिन्न प्रकार के अवयवों के सन्निवेश से विशिष्ट जो शरीर तथा जगत् रूप जो कार्य है, उसका निर्माण कर्ता अल्पज्ञ, सीमितज्ञान रखने वाला, पुण्य-पापसे परतंत्र संसारी जीव (क्षेत्रज्ञ) नहीं हो सकता। एवं इस कार्य रूप हेतु के द्वारा ही किये जाने वाले अनुमान से सिद्धहोता है कि इस जगत के कर्ता, ईश्वर ही हैं। अग्रलिखित प्रकार से उनकी विशेषताएं हैं-

i) वे सम्पूर्ण भुवनों का निर्माण करने में चतुर हैं।
ii) वे अचिन्त्य तथा निस्सीम ज्ञान तथा शक्ति एवं ऐश्वर्य से सम्पन्न हैं।
iii) वे शरीर से रहित हैं।
iv) केवल अपने संकल्पसे अनन्त विस्तार तथाविचित्र रचनासेयुक्त जगत् का निर्माण करते हैं ।
v) वे पुरुषविशेष हैं इस तरह के ईश्वर की सिद्धि अनुमान प्रमाणके द्वारा ही हो जाती है।

अतएव शास्त्र प्रमाण व्यतिरिक्त अनुमान प्रमाण द्वारा ही ईश्वर का निश्चय हो जाने से यह नहीं कहा जा सकता कि 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादि वेदान्त वाक्य ही ब्रह्म का प्रतिपादन करते हैं। फलतः ब्रह्म को शास्नैकवेद्य नहीं माना जा सकताहै।

पुनः नैयायिक कहते हैं कि ब्रह्म को संसार का निमित्त और उपादान दोनों नही माना जा सकता क्योंकि घटादि कार्यों में दोनों कारण भिन्न-भिन्न देखेजाते हैं। कुछ वेदान्ती आकाश को कार्य मानते हैं जबकि लोक में यह अनुभूत होता है कि जो सावयवद्रव्य होता है वही कार्य होता है। आकाश निरवयव हैअतः आकाश कार्य नहीं हो सकता है। फलतः वेदान्तवाक्य इस बात का प्रतिपादन नहीं कर सकते कि सम्पूर्ण जगत का अभिन्न निमित्तोपादान कारण एक ही ब्रह्म है।

श्रीभाष्यकार अपना मत उपस्थित करते हुए कहते हैं कि ब्रह्म में शास्त्र ही प्रमाण है क्योंकि शास्त्र वाक्य 'यतो वा इमानि भूतानिजायन्ति' इत्यादि वाक्य उस ब्रह्म को ही प्रतिपादित करता है। शास्त्र व्यतिरिक्त अनुमानादि कोई भी प्रमाण ब्रह्म को सिद्ध नहीं करती तथा नैयायिकों ने जो यह कहा कि संपूर्ण जगत् कार्य का कर्ता सावयव तथा जगत् निर्माण कार्य में समर्थ एवं उसके उपादान, उपकरण, सम्प्रदान, प्रयोजन के ज्ञाता रूप से चतुर किसी पुरुष विशेष का ज्ञान होता है। यह भी उचित नहीं है क्योंकि ऐसा मान लेने पर भी सब के सब एक ही समय में किसी एक ही कर्ता द्वारा उत्पन्न कर दिये गये इस विषय में कोई भी प्रमाण नहीं है। और नैयायिक इसके सिद्धि मेंयह भी नहीं कह सकते कि - जैसे कुलाल एक घडे को एक ही समय में बना लेता है वैसे ही उस पुरुष ने भी जगत् कार्य को कियाहै। क्योंकि संपूर्ण जगत् चित्र-विचित्र है। तो इसके निर्माण में अनेक कर्ता, समय एवं कलाकृति आदिकी आवश्यकता है। परन्तु संसार में अनेक घटों को अलग-अलग समय तथा परिस्थिति एवं कर्ता के द्वारा बनाया गया देखा जाता है। इस तरह यह निश्चित नहीं किया जा सकता कि विविध विचित्रता स्वरूप सम्पूर्ण कार्य को करने वाला पुरुष एक है तथा उस शक्तिमान कर्ता ने एक ही समय में सम्पूर्ण मही, महीधर तथा महार्णवात्मक जगत् को निर्मित किया है ।

शास्त्रयोनित्वात् (ब्रह्मसूत्र 1.1.3, श्रीभाष्य)

पुन: नैयायिक के एक अन्य प्रश्न का समाधान सिद्धान्ती करताहै कि- नैयायिक जो यह कहते है कि (क्षेत्रज्ञ) संसारी जीवों में विचित्रतापूर्ण संसार का निर्माण करने की शक्ति नहीं होती, इसलिए एक तथा चेतन ईश्वर को मानना चाहिए तो यह ठीक नहीं, क्योंकि 'क्षेत्रज्ञानाय कोषचित् इत्यादि। अर्थात् संसारी जीव जिनका पुण्य विशेष उपचित हो गया है, ऐसे सौभरि एवं विश्वामित्रादि जीवों में विचित्रशक्ति का योग देख जाता है, उन जीवों में ही अत्यधिक अदृष्ट उद्भूत हो जाता है। इस तरह के अत्यधिक अदृष्ट से सम्पन्न अनेक जीव इस विभिन्न प्रकार के से के कार्य के हेतु बन सकते हैं। अर्थात् कोई अपने शक्ति से पृथ्वी का तो कोई पर्वत का तथा कोई महार्णव रूप कार्य का निर्माण करने में समर्थ हो सकता है। परन्तु इस संसारी चेतनों से भिन्न जिसे कभी भी किसी ने नहीं देखा है ऐसे सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् चेतन ईश्वर की कल्पना नहीं की जा सकती। एवं संपूर्ण कार्यवर्ग का समान काल मे सृष्टि एवं विनाश कोई प्रमाणिक नहीं है। लोक में भी ऐसा नहीं देखा जाता ।उत्पत्ति और विनाश को संसार में देखे जाने से ही समान सब संसार की उत्पत्ति तथा विनाश को भी क्रमशः ही मानना होगा, एक समय में नहीं। क्रमशः उत्पत्ति तथा विनाश की कल्पना के लोकानुकूल होने के कारण इसमें किसी भी प्रकार का विरोध भी नहीं है।

जगत् के कर्ता की सर्वज्ञत्ता तथा एक कर्तृत्वता रूप साध्य की सिद्धि में कार्यत्व हेतु अनैकान्तिक है। तथा नैयायिकों द्वारा उपस्थापित अनुमान वाक्य में अप्रसिद्ध विशेषणता नामक दोष है क्योंकि पक्षभूत जगत् के एककर्ता ईश्वर के सर्वज्ञत्व तथा सर्वशक्तिमत्व रूप विशेषण अप्रसिद्ध विशेषण हैं। इसी का प्रतिपादन श्रीभाष्यकार करते हैं कि 'सर्वनिर्माणचतुरस्य' अर्थात् कोई भी लोक में ऐसा कर्ता नहीं देखा जाता कि जो सब कुछ निर्माण करने में चतुर हो अर्थात् सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान हो अतएव यह विशेषण अप्रसिद्ध विशेषण है।

यदि यह कहें कि बुद्धिमान कर्ता ही इस जगत् का कर्ता हैऐसा मेरा तात्पर्यहै तो अन्य सभी लोग कार्यों को बुद्धिमत कर्तृत्वपूर्वक ही मानते हैं इसीलिए आपके इस कथन में सिद्धसाधनता दोष एवं पिष्टपेषण प्रसक्त हो जाता है और भी आपका यह कार्यत्व हेतु सर्वज्ञता एवं सर्वशक्तिमता किसी एक कर्ता को सिद्ध करता है। तथा समकाल से ही उत्पन्न होने वाले समस्त कार्यों के कर्त्रेक्य का साधक माने तो वे सब कार्य ही नहीं सिद्ध होंगे। क्योंकि लोक में देखा जाता है कि

जो-जो कार्य होता है वह क्रमशः एक के बाद दूसरा उत्पन्न होता है। यदि यह कहें कि क्रमशःउत्पन्न होने वाली उन वस्तुओं के कर्ता के एकत्व को यह कार्यत्व हेतु सिद्ध करता है तो क्रमशःउत्पन्न होने वाली उन वस्तुओं की अनेकता होने के कारण उनके एक-एक कर्ता मिलकर अनेक हो जायेंगे ।अतएव यह कार्यत्व हेतुसाध्य (एककर्तृत्व) के विपरीत अनेक कर्ताओं को सिद्ध करने के कारण विरुद्ध हेतु है। उदाहरणतया इस लोक में भी देखा जाता है कि घट, पट, रथादि कार्यो के अनेक कर्ता देखे जाते हैं। अतएव कार्यत्व हेतु के द्वारा एक कर्तृत्व की सिद्धि करने पर लोक में भी विरोध होगा।अतःप्रत्यक्ष, अनुमान तथा शास्त्र इन तीनों प्रकार के प्रमाणों का विरोध होगा। एवं श्रुतियाँ भी कहती है- ‘कुंभकारो जायते, रथकारो जायते।’ इस श्रौतवाक्य से ही ज्ञात होता है कि भिन्न-भिन्न कार्य पदार्थों को उत्पन्न करने वालेभिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं। और जितने भी शरीरादि कार्य हैं उनका संबंध सत्वादि गुणों के कार्यभूत सुखादि से होता है। अतएव इन शरीरादि कार्यो की सत्तादिगुणमूलकता को अवश्य अवश्य स्वीकार करना चाहिए। तथा सभी कार्यों में जो विचित्रता होती है उनके कारण स्वरूप जो निमित्त तथा उपादान कारण है उनमें पाये जाने वाले सत्व इत्यादि गुण विशेष भिन्न-भिन्न हैं।

उन शरीरादि कार्यों की सत्वादि गुण मूलकता का प्रतिपादन सत्वादि गुणों से युक्त पुरुष के अन्तःकरण में होने वाले विकारों के द्वारा होता है।पुरुष (आत्मा) काउन अन्तः करणों से संबंध कर्ममूलक होता है। इस तरह से कर्मविशेषको करने के लिए आत्मा का कर्म के साथ उसी तरह से संबंध होता है जिस तरह जीवात्मा तथा ज्ञान का संबंध क्रिया के साथ। अतएव कर्ता के साथ कर्मों का संबंध अवश्य स्वीकारना होगा। क्योंकि कर्ता पुरुष के ज्ञान तथा शक्ति में जो विचित्रता भिन्नता देखी है जाती है उसका कारण कर्म ही है। यद्यपि किसी भी कार्य को करने का कारण इच्छा होती है।फिर भी जो इच्छा होती है वह विषय विशेष से विशेषित होती है । जब इच्छा रक्षा विषयिणी होती है, उस समय वह सत्वगुणमूलक होती है। और जब इच्छा प्रलयविषयिणी होती है तो उस समय वह तमोगुणमूलक होती है। इससे स्पष्ट हो गया कि इच्छा सत्वादिगुणमूलक है अतएव उसका कर्म से संबंध अवश्य स्वीकार करना चाहिए। अन्ततः स्पष्ट होता है कि ‘क्षेत्रज्ञ’ शरीरी ही जगत् के कर्ता हैं। उससे भिन्न किसी ईश्वर की सिद्धि अनुमानद्वारा नहीं हो सकती है। क्योंकि संसारी जीवों का ही कर्मोंसे संबंध होता है। नैयायिक सम्मत ईश्वर तो कर्मों के बंधन से भी बद्ध नहीं है।

भाष्यकार ने अग्रलिखित अनुमानों को प्रदर्शित किया है।

1. शरीर तथा जगत् के कर्ता क्षेत्रज्ञ (संसारी जीव) ही है। क्योंकि ये तनुभुवनादि कार्य हैं, घटादि के समान। उसी तरह तनुभुवनादि के कर्ता, क्षेत्रज्ञ जीव ही है।
2. ईश्वर इत्यादि जगत् का कर्ता नहीं है। क्योंकि उसका सृष्टि में कोई प्रयोजन नहीं है, मुक्तजीव केसमान।
3. ईश्वर जगत् का कर्ता नहीं है, क्योंकि वह शरीर रहित है, मुक्तात्मा के समान ।
4. यहाँ यह नहीं कहा जा सकता कि क्षेत्रज्ञ अपने शरीर के अधिष्ठाता तो सदा रहते नहीं है। क्योंकि मृत्यु के पश्चात् तो उनका शरीर से संबंध छूट जाता है। अतएव क्षेत्रज्ञों के सदा शरीराधिष्ठित रहने में व्यभिचार पाया जाता है। तो इसका उत्तर यह है कि शरीरपात के पश्चात्यद्यपि स्थूल शरीर का सम्बन्ध समाप्त हो जाता है। आत्मा शरीर से निकल कर लोकान्तर में जाता है तथा लोकान्तर से आता है फिर भी जीव के साथ सदा अनादिकाल से एक सूक्ष्म शरीर संयुक्त रहा है और क्षेत्रज्ञ उस शरीर को ही अपना अधिष्ठान बनाता है।

उसी शरीर में जीव लोकान्तर में जाता है।

5. किञ्च कालविषय में विवाद है कि काल-कभी लोक शून्य होता है कि नहीं? इस पर अनुमानकर्ता कहते हैं कि कोई भी ऐसा काल नहीं होता है। जबकि वह लोक शून्य रहे क्योंकि वह काल है; वर्तमान काल के समान।

पुनः भाष्यकार कहते हैं कि नैयायिक यह अनुमान करते हैं कि क्या ईश्वर शरीरविशिष्ट है या शरीर से रहित होकर अपना कार्य करता है ? तो भाष्यकार समाधान प्रस्तुत करते है कि बिना शरीर के इस संसारमें एक भी कर्ता उपलब्ध नहीं होता है। पुनःईश्वर शरीर विशिष्ट होकर भी जगत् में कर्ता नहीं हो सकता है क्योंकि प्रश्न उठता है कि -

जिस शरीर से विशिष्ट होकर ईश्वर जगत् का कर्ता होता है वह शरीर नित्य है या अनित्य ?उस शरीर को नित्य इसलिए नहीं माना जा सकता है कि शरीर सावयव होता है ।यदि सावयव शरीर नित्य हो जायेगा तो फिर सावयव जगत् को भी नित्य मानना होगा। इस तरह से आप ईश्वर के नित्य शरीर की सिद्धि भी नहीं कर सकते। ईश्वर के उस शरीर को अनित्य भी नहीं कहा जा सकताहै। क्योंकि सृष्टि काल में ईश्वर के उस शरीर से भिन्न कोई दूसरा शरीर विद्यमान नहीं था। यदि यह कहें कि ईश्वर उस शरीर का स्वयं हेतु है, तो यह भी ठीक नहीं क्योंकि शरीर रहित परमात्मा अपने उस शरीर का कारण नहीं बन सकता है। यदि ईश्वर दूसरे शरीर केद्वारा शरीरवान् होता है तो प्रश्न उठता है कि इस शरीर का भी कारण है किसी शरीर को होना चाहिए, जो शरीर उसका कारण होगा उसके भी कारणभूत शरीरान्तरको होना चाहिए। इस तरह से अनन्तापेक्षकत्वरूप अनवस्थादोष का प्रसंग होगा।

यहाँ पर प्रश्न होता है कि शरीर से रहित ईश्वर व्यापारयुक्त या व्यापारमुक्त ? तब नैयायिक का मानना है कि वह ईश्वर शरीर रहित है इसीलिए व्यापारयुक्त नहीं माना जा सकता तब तो नैयायिकों के मत निर्व्यापारमुक्तात्मा कर्ता नहीं होता है। उसी तरह से कर्ता भी (ईश्वर) नहीं हो सकता क्योंकि वह निर्व्यापार हो जाता है। पुन: यदि नैयायिक यह कहें कि अपने इच्छा रूपी व्यापार के द्वारा ईश्वर जगत् रूपी कार्य का कर्ता होता है तो यहाँ अप्रसिद्ध विशेषणता नामक दोष होगा क्योंकि ऐसा जगत् में नहीं दिखाई पड़ता है।

अन्ततः भाष्यकार कहते हैं कि मीमांसको के पूर्वपक्ष का प्रत्याख्यान करते हुए जो कहा था कि जिस तरह का संसार में देखा जाताहै, उसी के अनुसार ही ईश्वर का भी अनुमान किया जाना चाहिए। इस पर श्रीभाष्यकार कहते हैं कि नैयायिक विद्वानों के द्वारा किया गया ईश्वरानुमान लोक अनुकूल भी होकर दर्शन प्रतिकूल है।अत: ईश्वर को एक अनुमेय न मानकर उसे शास्त्रक प्रमाणक मानना चाहिए। वे ईश्वरही परं ब्रह्म है तथा वे ही सर्वेश्वर तथा पुरुषोत्तम हैं। पुनः भाष्यकार विशिष्टा द्वैत सम्मत ब्रह्म का स्वरूप रेखांकित करते हैं कि शास्त्र बतलाता है कि शास्त्रतिरिक्त जितने भी प्रमाण हैं उनके द्वारा ज्ञात जितनी भी वस्तुएं हैं। उन सब से भिन्न प्रकार का ही ब्रह्म है। वह परब्रह्म सर्वज्ञ तथा सत्यसङ्कल्य आदि गुणों से युक्त, निःसीम तथा सर्वोत्कृष्ट अपरिमित, कल्याणगुणों के सागर हैं, तथा स्वरूपतः सभी हेय गुणों से रहित है। अतएव शास्त्र भिन्न प्रमाणों के द्वारा जिन वस्तुओं का ज्ञान होता है, उन वस्तुओं की सादृश्यता जन्य देव का ब्रह्म मे प्रसंग नहीं है।

पुनः नैयायिकों ने जो यह कहा है कि मीमांसक ईश्वर की जो अभिन्ननिमित्तोपादान कारणता कहते हैं वह लोक विरुद्ध होने से ठीक नही है। तो भाष्यकार इसका समाधान करते हैं कि 'प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्' इस सूत्र से महर्षि बादरायण कहते हैं कि ब्रह्म संपूर्ण जगत्

की प्रकृति (उपादान कारण) भी है क्योंकि ऐसा मान लेने पर सद्विद्या प्रकरण में पठित एक विज्ञान से सर्वविज्ञान प्रतिज्ञा का कोई विरोध नहीं होता है। नैयायिक ईश्वर को जगत का निमित्तकारण तो मानते है परन्तु ईश्वर को जगत् का उपादान कारण श्रौत तथा स्मार्त वाक्य बतलाते हैं। अतएव ईश्वर की जगत् के प्रति अभिन्ननिमित्तोपादान कारणता शास्त्रानुकूल है। बादरायणाचार्य ने कहा है-'न वियदश्रुतेः'अर्थात् आकाश आत्मवत् नित्य नहीं क्योंकि 'तस्मादेतस्मादाकाशःसंभूतः.......।' श्रुति आकाश की उत्पत्ति को बतलाकर उसके कार्यत्व का प्रतिपादन तथा नित्यत्वका निषेध करती है।

अतएव ब्रह्म दूसरे प्रमाणों का विषय नहीं बनता है किञ्च ब्रह्म में केवल शास्त्र ही प्रमाण है ।इसीलिए 'यतो वा इमानि.......' इत्यादि श्रुति ब्रह्मको जगज्जन्मादि के कारण रूप से प्रतिपादित करती है, ऐसा सिद्ध होता है।

10.3 सारांश

विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के अनुसार ब्रह्म क्षिति, अंकुर आदि कार्यरूप सम्पूर्ण जगत का कारण है। ब्रह्म का यह जगत्कारणत्व केवल शास्त्र से प्रमाणित होता है अर्थात् ब्रह्म शास्त्रैकवेद्य है। 'ब्रह्म' शब्द पुरुषोत्तम का वाचक है जो कि स्वभावत: समस्त दोषों से रहित, सीमातीत और असंख्य कल्याणगुणों के सागर हैं ।भाष्यकार विशिष्टाद्वैतसम्मत ब्रह्म का स्वरूप रेखांकित करते हैं कि शास्त्र बतलाता है कि शास्त्रतिरिक्त जितने भी प्रमाण हैं उनके द्वारा ज्ञात जितनी भी वस्तुएं हैं। उन सब से भिन्न प्रकार का ही ब्रह्म है। वह परब्रह्म सर्वज्ञ तथा सत्यसङ्कल्य आदि गुणों से युक्त, निःसीम तथा सर्वोत्कृष्ट अपरिमित, कल्याणगुणों के सागर हैं, तथा स्वरूपतः सभी हेय गुणों से रहित है।

पूर्वपक्षी यह प्रश्न उपस्थापित करता है कि सिद्धान्ती ब्रह्म को शास्त्रैक वेद्य नहीं कह सकते हैं क्योंकि ब्रह्म को दूसरे प्रमाणों के द्वारा भी जाना जा सकता है। उन प्रमाणों में प्रत्यक्ष प्रमाण तथा उनके भेदों तथा अनुमान प्रमाण के भेदों को भी तात्पर्यतः ब्रह्म ज्ञान में कारण माना जा सकता है।

आचार्य रामानुज के अनुसार नैयायिक ईश्वर को जगत का निमित्तकारण तो मानते है परन्तु ईश्वर को जगत् का उपादान कारण श्रौत तथा स्मार्त वाक्य बतलाते हैं। अतएव ईश्वर की जगत् के प्रति अभिन्ननिमित्तोपादान कारणता शास्त्रानुकूल है। श्रुतियां आकाश आदि कार्यों की उत्पत्ति को बतलाकर उसके कार्यत्व का प्रतिपादन तथा नित्यत्वका निषेध करती है। अतएव ब्रह्म दूसरे प्रमाणों का विषय नहीं बनता है किञ्च ब्रह्म में केवल शास्त्र ही प्रमाण है ।इसीलिए 'यतो वा इमानि.......' इत्यादि श्रुति ब्रह्मको जगज्जन्मादि के कारण रूप से प्रतिपादित करती है, ऐसा सिद्ध होता है।

10.4 शब्दावली

कारण, उपादानकारण, निमित्तकारण, प्रमाण, योगज प्रत्यक्ष, सामान्यतोदृष्ट अनुमान, विशेषतोदृष्ट अनुमान।

10.5 कुछ उपयोगी पुस्तकें

- श्रीभाष्यम्, संस्कृत संशोधन संसत्, मेलुकोटे, 1985

- श्रीभाष्यम्, (हिन्दी व्याख्याकार) शिवप्रसाद द्विवेदी, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 2009
- श्रीभाष्य, (हिन्दी व्याख्याकार) ललित कृष्ण गोस्वामी, निम्बार्क पीठ, प्रयाग, सं. 2030
- The Vedantasutras with the Sribhashya of Ramanujacharya, M. Rangacharya & M. B. Varadraja Aiyangar, The Brahmavadin Press, Madras, 1899

10.6 अभ्यास प्रश्न

i) 'शास्त्रयोनि' पद का अर्थ क्या है?

ii) जगत्कारणता के सम्बन्ध में नैयायिक के पक्ष को स्पष्ट कीजिए ?

iii) सगुण ब्रह्म का स्वरूप बताईये ?

iv) ब्रह्म का प्रत्यक्ष क्यों सम्भव नहीं है ?

10.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

i) विशिष्टाद्वैत मत में शास्त्रयोनि: शब्द में बहुव्रीहि समास है।उनके अनुसार 'शास्त्रं यस्य योनिः कारणंप्रमाणं तस्यभावः शास्त्रयोनित्वम् तस्मात् शास्त्रयोनिवात्'अर्थात् चूंकि शास्त्र ही जिसका योनि है, अर्थात् कारण या प्रमाण है, वही ब्रह्म शास्त्रयोनि है।

ii) न्याय दर्शन में ईश्वर को जगत्कारण माना जाता है। नैयायिक अनुमान प्रमाण से ईश्वर के सृष्टिकर्तृत्व को स्थापित करते हैं। उनका तर्क है कि लोकव्यवहार में जिस प्रकार से यह देखा जाता है कि घट, पट आदि सावयव वस्तुएं कार्य कहलाती हैं तथा प्रत्येक कार्य किसी न किसी कर्त्ता से उत्पन्न होता है। अतः यह व्याप्ति स्थापित होती है कि प्रत्येक कार्य का कोई कर्त्ता अवश्य होता है। इसी प्रकार लोक में पृथिवी, समुद्र आदि कार्य भी दृष्टिगत होते हैं अतः इनका भी कोई कर्त्ता होना चाहिए। चूँकि जीव इन कार्यों के कर्त्ता नहीं हो सकते हैं अतः परिशेषानुमान से ईश्वर जगत का कर्त्ता सिद्ध होता है।

iii) विशिष्टाद्वैत वेदान्त के अनुसार परब्रह्म सर्वज्ञ तथा सत्यसङ्कल्प आदि गुणों से युक्त, निःसीम तथा सर्वोत्कृष्ट अपरिमित, कल्याणगुणों के सागर हैं, तथा स्वरूपतः सभी हेय गुणों से रहित हैं।

iv) भारतीय ज्ञानमीमांसा के अनुसार इन्द्रिय तथा अर्थ (विषय) के सन्निकर्ष से उत्पन्न होने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण कहलाता है। यहाँ इन्द्रिय से तात्पर्य चक्षु, रसना, श्रोत, त्वक् तथा घ्राण इन पञ्च ज्ञानेन्द्रियों से है तथा विषय शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध से है। जब चक्षुरादि इन्द्रियाँ रूपादि विषयों से संयोगादि सन्निकर्ष करती हैं तो प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। प्रत्यक्ष में हेतुभूत सन्निकर्ष दो प्रकार का होता है – लौकिक सन्निकर्ष तथा अलौकिक सन्निकर्ष। लौकिक सन्निकर्ष में इन्द्रियाँ विषयों से जुडती हैं जबकि अलौकिक सन्निकर्ष में इन्द्रियसंयोग की कोई आवश्यकता नहीं होती है। इन्द्रियों का यह स्वभाव है कि वे रूपादि गुणों से युक्त विषयों से ही सन्निकर्ष करती हैं। जिन विषयों में रूपादि गुण नहीं होते हैं उनका इन्द्रिय से प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता है। चूँकि ब्रह्म में इन सभी रूप, रसादि गुणों का अभाव होता है, अतः ब्रह्म का इन्द्रियों से प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता है।

इकाई 11 तत्तु समन्वयात् (ब्रह्मसूत्र 1.1.4, श्रीभाष्य)

11.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप :

- श्रुतियों के ब्रह्म में समन्वय से अवगत होंगे।
- शास्त्रलक्षण का ज्ञान प्राप्त करेंगे।
- शास्त्रों के प्रयोजन के विषय में जानकारी प्राप्त करेंगे।
- निष्प्रपंचवाद एवं नियोगवाद से परिचित होंगे।
- भेदाभेद मत का ज्ञान करेंगे।

11.1 प्रस्तावना

विशिष्टाद्वैत मतानुसार ब्रह्म ही परमतत्त्व है। ऐसे परब्रह्म को श्रीनिवास संज्ञा से विभूषित किया जाता है तथा उनके विशेष स्वरूप का परिज्ञान उपनिषदों से प्राप्त होता है। ईश, केन, कठ आदि उपनिषद् ग्रन्थों में ब्रह्म का लक्षण, उनका स्वरूप, उनकी भक्ति आदि विषयों का निरूपण विस्तार से किया गया है। ब्रह्म इस जगत् के जन्माद्यकारण हैं। सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति, स्थिति एवं प्रलय उनकी लीलामात्र है। इस संसार में जितने भी प्रकार के प्राणिवर्ग हैं चाहे वे मनुष्य हों, पशु हों, पक्षी हों अथवा जड़ वस्तुएं हों; उन समस्त प्रकार की सन्ततियों की उत्पत्ति भगवान् नारायण के द्वारा ही होती है।

विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के अनुसार ब्रह्म क्षिति, अंकुर आदि कार्यरूप सम्पूर्ण जगत का कारण है। ब्रह्म का यह जगत्कारणत्व केवल शास्त्र से प्रमाणित होता है अर्थात् ब्रह्म शास्त्रैकवेद्य है। 'ब्रह्म' शब्द पुरुषोत्तम का वाचक है जो कि स्वभावत: समस्त दोषों से रहित, सीमातीत और असंख्य कल्याण गुणों के सागर हैं। भाष्यकार विशिष्टाद्वैतसम्मत ब्रह्म का स्वरूप रेखांकित करते हैं कि

शास्त्र बतलाता है कि शास्त्रातिरिक्त जितने भी प्रमाण हैं उनके द्वारा ज्ञात जितनी भी वस्तुएं हैं। उन सब से भिन्न प्रकार का ही ब्रह्म है। वह परब्रह्म सर्वज्ञ तथा सत्यसङ्कल्य आदि गुणों से युक्त, निःसीम तथा सर्वोत्कृष्ट अपरिमित, कल्याण गुणों के सागर हैं, तथा स्वरूपतः सभी हेय गुणों से रहित है।

11.1 तत्तु समन्वयात्

विशिष्टाद्वैत मतानुसार ब्रह्म शास्त्रप्रमाणक है। शास्त्र ब्रह्म को जगज्जन्मादि कारण के रूप से ब्रह्म का प्रतिपादन करता है। ब्रह्म की यह शास्त्र प्रमाणकता श्रुतियों के ब्रह्म में समन्वय से ज्ञात होती है । परम पुरुषार्थ रूप से होने वाले अन्वय को समन्वय कहते हैं। परम् पुरुषार्थरूप ही ब्रह्म का अभिधेय रूप से शास्त्र के साथ अन्वय सम्बन्ध होता है अर्थात् शास्त्र ब्रह्म का परम पुरुषार्थ रूप से प्रतिपादन करता है।

इस सूत्र में तीन पद 'तत्', 'तु'एवं 'समन्वयात्' है। 'तु' पद शंकानिवृत्ति के लिए प्रयुक्त है। अर्थात् पूर्वपक्षकारों ने यह जो कहा है कि प्रवृत्ति तथा निवृत्ति परत्वाभाव के कारण शास्त्रण सिद्ध ब्रह्म का बोधक नहीं हो सकता तो पूर्वपक्षी का यह कथन उचित नहीं है।'तत्' पद का अर्थ है किब्रह्म शास्त्रप्रमाणक हीहै ।'समन्वयात्' का तात्पर्य है समस्त शास्त्र ब्रह्म को परम् पुरुषार्थरूप से स्वीकृत करने में समन्वित हैं ।

भाष्यकार के अनुसार उपनिषदों के पद समुदाय परम पुरुषार्थरुप ब्रह्म के प्रतिपादक रूप से ही समन्वित होते है अर्थात् अनेक उपनिषद् ब्रह्म वाक्य अपने समर्थन(समन्वय) द्वारा उस ब्रह्म का प्रतिपादन करते हैं। 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते', 'सदेवसोम्येदमग्रमासीत् एकमेवाद्वितीयम्', 'ब्रह्मवा इदमेकमेवाग्र आसीत्', 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्', 'तस्माद्वा एतस्मादात्मनः आकाशः संभूतः', 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म', 'आनन्दो ब्रह्म इत्येवमादिः'श्रुतिवाक्यतात्पर्यतः ब्रह्म का समन्वितार्थ में प्रतिपादन करते हैं।

पूर्व पक्ष यदि इस प्रकार की शङ्का करें कि विशिष्टाद्वैत मतानुसार शब्द सिद्ध वस्तु के भी बोधक होते हैं । ब्रह्म व्युत्पति सिद्ध वस्तु है तथा उस रूप से उसकी प्रतीति भी हुई है। चूँकि ब्रह्म में प्रवृत्तिनिवृत्ति रूप प्रयोजन का अभाव है, अतएव उपनिषदों के वे पद ब्रह्म से भिन्न वस्तु का ही बोध करा सकते है; तो यह कथन असंगत है क्योंकि समस्त प्रमाणों का पर्यवसान अपने विषय बोधन में ही होता है। मीमांसक विद्वान यह भी नहीं कह सकते कि प्रमाणों की प्रवृति प्रयोजनों के अनुकूल होती है। क्योंकि प्रयोजन ही प्रमाण के अनुकूल होता है। यह कथन भी ठीक नहीं है कि उपनिषद् वाक्यों का चूंकि प्रवृत्ति निवृत्ति से संबंध नहीं होता अतएववे उपनिषद वाक्य प्रयोजन शून्य हैं क्योंकि उपनिषद वाक्यों में पुरुषार्थ का सम्बन्ध देखा जाता है।

मीमांसक के अनुसार वेदान्तों के वाक्य ब्रह्म का प्रतिपादन नहीं कर सकते क्योंकि वेदान्त शास्त्र सुख की प्राप्ति रूप प्रवृत्ति तथा दुःख की निवृत्ति रूप निवृत्ति इन दोनों के सम्बन्ध से रहित हैं और प्रवृत्ति तथा निवृत्ति के सम्बन्ध से रहित शास्त्र निरर्थक होता है।

यद्यपि प्रत्यक्षादि प्रमाणों का पर्यवसान वस्तु के वास्तविक स्वरूप के बोधन में ही हो जाता है किन्तु शास्त्र का पर्यवसान तो प्रयोजन के बोधन में ही होता है। पुनः भाष्यकार शास्त्र का लक्षण प्रस्तुत करते हैं कि 'जो अधिकारी पुरुष के नित्य अथवा साध्य रूप हो प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति रूप से उपदेश करता है उसे शास्त्र कहते हैं।

लोक तथा वेद में भी एक भी वाक्य प्रयोग प्रयोजनहीन नहीं प्राप्त होता है। प्रयोजन का स्वरूप है- 'प्रयोजनं प्रवृत्ति निवृत्ति साध्येष्टानिष्ट प्राप्ति परिहारात्मकमुपलब्धम् ।'अर्थात् लोक में वह प्रयोजन प्रवृत्ति साध्य इष्ट की प्राप्ति रूप तथा निवृत्ति साध्यअनिष्ट की निवृत्ति रूप होता है। 'अर्थार्थी राजकुलंगच्छेत्, 'स्वर्गकामो यजेत्' इत्यादि वाक्यों से प्रवृत्ति निवृत्ति परत्व का प्रतिपादन होता है। इससे स्पष्ट है कि वाक्य को प्रवृत्ति निवृत्ति परक प्रयोजनरूप ही होना चाहिए। किन्तु वेदान्त वाक्य तो ऐसे नहीं है अतएव वे ब्रह्म के बोधक नहीं हो सकते हैं।

11.2.1 नियोगवाद का मत

प्राचीन मायावादियों के दो प्रकार के मत हैं प्रथम है- निष्प्रपञ्चीकरणनियोगवाद तथा द्वितीय- ध्यान नियोगवाद। उनमें सर्वप्रथम निष्प्रपञ्चीकरण नियोगवादी के मत को उपन्यन्त करते हुए श्रीभाष्यकार कहते हैं कि वेदान्त वाक्य भी कार्य के ही प्रतिपादक होने के कारण ब्रह्म में प्रमाण बनते हैं। ब्रह्म स्वभावतः निष्प्रपञ्च है, अद्वितीय तथा ज्ञानमात्र है। वह अनादि अविद्या के ही कारण प्रपञ्च रूप से प्रतीत होता है। निष्प्रपञ्च ब्रह्म प्रपञ्च के नाश के द्वारा विधि वाक्य का विषय बनता है। इस प्रकार का विधि वाक्य है- 'नदृष्टेर्द्रष्टारं पश्येः न मतेर्मन्तारंमन्वीथां इत्यादि (बृहदा०)। अर्थात् दृष्टिस्वरूप आत्मा के द्रष्टा को न देखो मतिस्वरूप आत्मा के मनन करने वाले को न देखो'। इस श्रुति का तात्पर्यहै यद्यपि ब्रह्म स्वतः सिद्ध है, फिर भी निष्प्रपञ्चता रूप से उसमें कार्यत्व मानने में कोई विरोध नहीं है।

आचार्य रामानुज के अनुसार निष्प्रपञ्चीकरण नियोगवादी का उपर्युक्त कथन ठीक नहीं है। वेदान्त वाक्यों का नियोगरूप अर्थ मानने पर नियोगवादी को इस नियोग का स्वरूप, नियोज्य का विशेषण, विषय, नियोग का करण, इतिकर्तव्यता तथा प्रयोक्ता के विषय में कथन करना होगा। किन्तु वे इन विषयों का निरूपण नहीं कर सकते हैं। इन छहों में नियोज्य का विशेषण अनुपादेय है, क्योंकि नियोज्य का विशेषण दो प्रकार का होता है- निमित्तस्वरूप तथा फलस्वरूप। इनमें से किस कों नियोगवादी नियोज्य का विशेषण मानते है ? वह निमित्तस्वरूप है ? अथवा फलस्वरूप ?

यदि नियोगवादी यह कहें कि ब्रह्म के स्वरूप का यथार्थानुभव ही नियोज्य का विशेषण है तब तो फिर वह निमित्त नहीं हो सकता है। जैसे- इस वाक्य "यावज्जीवनमग्निहोत्रं जुहोति" अर्थात् 'आजीवन अग्निहोत्र करता है' का जीवन शब्द जैसे निमित्त नहीं हो सकता, उसी तरह वह ब्रह्मस्वरूप का याथात्म्यानुभव निमित्त नहीं हो सकता। इस तरह निमित्त के नित्य होने के कारण तथा नैमित्तिक के नित्य शक्य होने के कारण नित्य ही निमित्त के अनुष्ठान का प्रसङ्ग होगा। यही नियोगवाद में दोष है। यदि नियोगवादी उसको (ब्रह्मस्वरुपयाथात्म्यानुभव) को फल माने तो वे ऐसा भी नहीं कह सकते क्योंकि उनको निवेश का फल मानने पर वह उसी तरह अनित्य होगा जिस तरह अश्वमेधादि के फल स्वर्ग आदि अनित्य है। इस तरह का ब्रह्मस्वरुप याथात्म्यानुभव न तो निमित्तरूप से विनियोग का विशेषण हो सकता है और न ही फल रूप से हो सकता है।

अधिकरण पूर्वपक्षी का नियोग (विधि) विषयक प्रश्न प्रस्तुत करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि निष्प्रपञ्चीकरण नियोगवादी के मत में नियोग का विषय कौन है ? ऐसा प्रश्न करने पर यदि कहें कि ब्रह्म ही नियोग का विषय है तो यह ठीक नहीं क्योंकि विधि का विषय होने के लिए दो बातों का होना आवश्यक है। भव्यरूपता तथा भावार्थता। ब्रह्म में इन दोनों का अभाव है। ब्रह्म

सिद्ध है साध्य नहीं, तो वह भावार्थ भी नहीं हो सकता अतएव ब्रह्म नियोगका विषय नहीं हो सकता है।

यदि कहें कि प्रपञ्चरहित ब्रह्म साध्य है असाध्य नहीं तो इस पर अधिकरण पूर्वपक्षी का कहना है कि प्रपञ्चरहित ब्रह्म को साध्यमान लेने पर भी वह फल ही हो पायेगा, भावार्थ नहीं होने के कारण वह विधि विषय नहीं हो सकता है । यदि ब्रह्म को विधि का विषय माने तो फिर वह फल से भिन्न होगा। यदि उसे फल मानें तो वह विषय नहीं हो सकता। वास्तविकता तो यही है कि भावार्थ नहीं होने के कारण ब्रह्म तो नियोग का विषय नहीं हो सकता।

पुनः विशेष्यांश तथा विशेषणांश के विशेष्यत्वानुपपत्ति को बतलाते हुए कहते हैं कि आप किसकी साध्यता स्वीकार करते हैं? ब्रह्म की अथवा प्रपञ्च की निवृत्ति की? ब्रह्म की साध्यता इसलिए स्वीकार नहीं कर सकते कि ब्रह्म नित्य है। यदि उसे साध्य माना जाय तो फिर उस ब्रह्म में अनित्यत्व प्रसंग हो जाता है। यदि आप प्रपञ्च की निवृत्ति की साध्यता स्वीकार करें तो फिर ब्रह्म साध्य नहीं हो पायेगा, और साध्य न होने के कारण नियोग का विषय भी नहीं हो पायेगा।

यदि प्रपञ्च की निवृत्ति को ही विधि का विषय माने तो ऐसा भी नहीं कर सकते क्योंकि प्रपञ्च की निवृत्ति तो फल है ऐसी स्थिति में वह विधि की विषय भी नहीं बन पायेगी। क्योंकि आप मायावादियों के मत में प्रपञ्च की निवृत्ति ही मोक्ष माना जाता है और मोक्ष ही फल है। यदि प्रपञ्चनिवृत्तिरूपफल को ही नियोग का विषय मानें तो अन्योऽन्याश्रय दोष होता है। क्योंकि नियोग कि सिद्धि हो जाए तो फिर प्रपञ्च की निवृत्ति हो और प्रपञ्च की निवृति होने पर नियोग की सिद्धि हो,यही अन्योऽन्याश्रय दोष का स्वरूप है।

भाष्यकार कहते हैं कि विधि निष्प्र पञ्चब्रह्म को अपना विषय नहीं बना सकती है । इसके मण्डन में युक्ति प्रस्तुत करते हैं कि निष्प्रपञ्चीकरण विनियोगवादियों के मत में निवर्तनीय रूप से अभिप्रेत प्रपञ्च मिथ्या है अथवा सत्य है? यदि वे प्रपञ्च को मिथ्या मानें तो उनकी निवृत्ति ज्ञान के ही द्वारा संभव है। उसमें नियोग की क्या आवश्यकता है? यदि वे कहें कि नियोग निवर्तक ज्ञान को उत्पन्न करके उसी के द्वारा प्रपञ्च का निवर्तक बनता है अतएव नियोग अपेक्षित है तो में ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि प्रपञ्च निवर्तक ज्ञान की उत्पति तो प्रपञ्च के मिथ्यात्व तथा ब्रह्म के निर्विशेषत्व के प्रतिवादक वाक्यों से ही हो जायेगी, इस कार्य में नियोग की कोई आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार के (प्रपञ्च मिथ्यात्वप्रतिपादक तथा ब्रह्म के निर्विशेषत्वप्रतिपादक) वाक्यों के अर्थों का ज्ञान हो जाने से ही ब्रह्म से भिन्न संपूर्ण मिथ्या प्रपंच के बाधित हो जाने से संकर नियोग की असिद्धि भी हो जाती है।

दूसरा प्रश्न यह कि प्रपंचनिर्वत्य है तो फिर उसका निवर्तक जो नियोग है वह ब्रह्म का स्वरूप ही है या इससे भिन्न है ? ब्रह्मस्वरूप मानने पर निवर्तक नियोग के नित्य होने के कारण कभी भी निवर्त्य प्रपंच का सद्भाव नहीं होगा क्योंकि जब निवर्तक नियोग रहेगा उस समय मिथ्या प्रपंच इसी तरह से नहीं हो सकता है जिस तरह शुक्ति के ज्ञान के रहने पर मिथ्या रजत नहीं रह जाता है।

पुनः निष्प्रपंचीकरण नियोगवादी के मत में नियोग की इतिकर्तव्यता तथा करण में दोष दिखाते हुए अधिकरण पूर्वपक्षी कहते हैं कि दूसरीबात यह है कि इतिकर्तव्यता का अभाव होने के कारण प्रपंच की निवृत्ति नियोग (विधि) का करण नहीं हो सकता। भाष्यकार का प्रश्न है कि निष्प्रपंचीकरण नियोगवादी प्रपंच की निवृत्ति को भाव रूप मानते हैं अथवा अभाव रूप मानते

हैं? भाव रूप मानने पर उसके दो रूप हो सकते हैं प्रथम- कारण शरीर निष्पति की साक्षात निष्पादि का होकर तथा द्वितीय- उसकी अनुग्राहि का होकर तथा इन दोनों में से वह किसी भी प्रकार की नहीं हो सकती। इसी तरह वह इतिकर्तव्यता अनुग्राह कभी नहीं हो सकती है। इस तरह स्पष्ट है कि निष्प्रपञ्च ब्रह्म को अपना विषय बनाने वाली विधि संभव नहीं है। अतःयह कथन कि प्रवर्तक वाक्यों के ही द्वारा ब्रह्म के स्वरूप की सिद्धि होती है, असंगत है।

11.2.2 ध्याननियोगवाद का मत

भाष्यकार आचार्य रामानुज ध्यान नियोगवादी पूर्वपक्ष को प्रस्तुत करते हैं। ध्यान नियोगवादी का कथन है यद्यपि वेदान्तों के वाक्यों का प्रामाण्य ब्रह्मस्वरूप से नहीं है। फिर भी उन वाक्यों के द्वारा ब्रह्म के स्वरूप की सिद्धि तो होती ही है। 'आत्मावाऽरेद्रष्टव्यःनिदिध्यासितव्यः', 'यआत्माअपहतपाप्मासोऽन्वेष्टव्यःसविजिज्ञासितव्यःआत्मेत्येवोपासीत',
आत्मानमेवलोकमुपासीत। इत्यादि वेदान्त के वाक्यों में ध्यान विषयिणी ही विधि है। इन विधि वाक्यों का विषय भूत जो ध्यान है। उसका निरुपण ध्यान के द्वारा ही किया जा सकता है। अतएव यह नियोग ध्येयभूत ब्रह्म का आक्षेप करता है। विनियोग के द्वारा ध्येय आत्मा ही है जिसका स्वरूप 'सत्यंज्ञानमनन्तंब्रह्म', 'सदेवसोम्येदमग्रमासीत्एकमेवाद्वितीयम् इत्यादि श्रुति वाक्यों में प्रतिपादित है।

इन वाक्यों की प्रामाणिकता ध्यान विधि के शेष रूप से होती है। अतएव विधि वाक्यों के विषय बनने वाले ध्यान के अन्तर्गत आने वाले ब्रह्म के स्वरूप के प्रतिपादन में भी इन वाक्यों का तात्पर्य है ही। इसीलिए 'एकमेवाद्वितीयम्', 'तत्सत्यम्सआत्मा', 'नेहनानास्तिकिञ्चन' इत्यादि श्रुतियाँ बतलाती है कि केवल ब्रह्म का स्वरूप ही सत्य है, शेष सब मिथ्या है।

प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों तथा भेद को ही अपना आश्रय बनाकर प्रवृत्त होने वाला कर्म शास्त्र इन दोनों के द्वारा भेद की ही प्रतीत होती है। परन्तु प्रश्न उठता है कि इन दोनों में से किस को स्वीकार किया जाए तब नियोगवादी समाधान करते हैं कि "भेदाभेदयोः" इत्यादि अर्थात्भेद तथा अभेद दोनों परस्पर विरोधी है अतएव यदि भेद परमार्थ होगा तो अभेद को परमार्थ नहीं मानना होगा क्योंकि समकाल में दोनों परमार्थ नहीं हो सकते हैं। चूंकि यह तथ्य सिद्ध है कि भेद समस्त प्रतीति अविद्यामूलक है। इसलिए यही निश्चय होता है कि अभेद ही परमार्थ है और भेद मिथ्या है। ब्रह्म के ध्यान रूपी नियोग के द्वारा तथा उस नियोग के फलस्वरूप आत्मा के साक्षात्कार रूपी फल के द्वारा जिसके अज्ञानजन्य अनेक प्रकार के भेदों की प्रतीति होती है वे समस्त भेद विनष्ट हो जाते हैं। उसको अद्वितीय ज्ञान मात्र रूप ब्रह्मभाव की प्राप्ति रूपी मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है।

कतिपय अद्वैतवादी मानते हैं कि 'तत्वमसि' आदि वाक्यों के अध्ययन कर लेने से शुद्ध हृदय में वे वाक्य निवर्तकज्ञान को उत्पन्न कर देते हैं और उसी से मोक्ष की प्राप्ति होती है। इन वादियों के मत का खण्डन करते हुए नियोगवादी कहते हैं कि वाक्य से उत्पन्न केवल वाक्यार्थ ज्ञानमात्र से ब्रह्म भावमोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती है क्योंकि ऐसा नहीं नहीं देखा जाता है। किञ्चजिन को वाक्यार्थ ज्ञान हो गया है उनको भी अनेक प्रकार के भेद की अनुवृत्ति होती ही रहती है। और यदि वाक्यार्थ ज्ञानमात्र से ही ब्रह्मभाव की प्राप्ति हो जाती हैं तो जो शास्त्रों में फिर श्रवण आदि का विधान किया गया है वह व्यर्थ हो जायेगा। अतएव वाक्यार्थ ज्ञानमात्र से मोक्ष की प्राप्ति नहीं स्वीकार की जा सकती है।

प्रस्तुत भाष्य अंश में भाष्यकार ने साक्षात्मायावादियों के द्वारा ध्यान नियोगवादी के मत का खण्डन प्रदर्शित किया है। वे कहते हैं कि यदि यहां पर साक्षात्मायावादी यह कहें कि जिस तरह से रज्जु में सर्पभ्रम के स्थल में किसी प्रामाणिक पुरुष के उपदेश के द्वारा जब यह ज्ञात हो जाता है कि यह रज्जु है, सर्प नहीं तो सर्प के भय से भयभीत भ्रान्त पुरुष के भय की निवृत्ति से जाती है। क्योंकि रस्सी में प्रतीत होने वाला सर्प मिथ्या है ठीक इसी प्रकार मिथ्या संसार बंधन का ज्ञान के द्वारा प्रकाशित हो जाने पर संसार बंधन का बाध हो जाता है। आविद्यक बन्ध से यही निवृत्ति ही मोक्ष है।

पुनः यदि मोक्ष को नियोग का साध्यमान लिया जाय, तो फिर जिस तरह यागादि साध्य स्वर्ग अनित्य है उसी तरह से नियोग का साध्य होने के कारण मोक्ष भी अनित्य सिद्ध होने लगेगा। किन्तु सभी दार्शनिक यही मानते हैं कि मोक्ष नित्य है, अनित्य नहीं। अतएव मोक्ष को नियोग साध्य नहीं माना जा सकता है।

दूसरी बात यह है कि धर्म तथा अधर्म रूपी जो नियोग है, वे अपने फल को अनुभव करने योग्य शरीर को उत्पन्न करके उसी के द्वारा सुख-दुःख प्रदान करने का कारण बनते हैं। अतएव धर्मरूपी नियोग साध्य मोक्ष को मानने पर मोक्ष में भी ब्रह्म से लेकर एक तृण-पर्यन्त चार प्रकार के जो देव, मनुष्य, तिर्यक्त था स्थावर शरीर होते हैं उन शरीरों की प्राप्तिरूप संसार का भी सम्बन्ध होना अनिवार्य हो जायेगा। अतएव नियोगरूपी धर्म का साध्य मोक्ष को स्वीकार नहीं किया जा सकता है।

पुनः मायावादी कहते हैं कि ध्यान नियोगवादी यह भी नहीं कह सकते कि जिस तरह विशेष प्रकार के नियोग का फलफल विशेष की प्राप्ति होती है, उसी तरह ध्यान रूप नियोग विशेष का फल शरीर रहित त्वरूप मोक्ष है, क्योंकि अशरीरत्व ही आत्मा का स्वरूप है। और स्वरूप होने के कारण ही वह नित्य है, अतएव वह किसी का साध्य नहीं हो सकता है। श्रुतियाँ भी कहती हैं, 'अशरीरंशरीरेषुअनवस्थेषुअवस्थितं। महान्तंविभुमामानंमत्वाधीरोनशोचति।। (कठोप०) अर्थात्यह आत्मा शरीरों के भी तर शरीर रहित होकर रहता है, तथा अस्थिर वस्तुओं के भी तर स्थिर रूप से रहता है, इस प्रकार महान तथा व्यापक आत्मा के स्वरूप का चिन्तन कर के ज्ञानी पुरुष कभी संसार चक्र में नहीं पड़ता है। इस तरह से स्पष्ट है कि शरीररहि तत्वरूपी मोक्ष नित्य है अतएव उसे धर्म का साध्य नहीं स्वीकार किया जा सकता।

ध्यान नियोगवादियों के द्वारा अद्वैतवादियों के खण्डित पक्ष को प्रस्तुत करने के उपरान्त भाष्यकार प्रकृत भाष्य खण्ड में यह तथ्य प्रस्तुत कर रहें हैं कि ध्यान भी वाक्यार्थ ज्ञान का हेतु नहीं हो सकता क्योंकि ऐसा मानने पर अन्योन्या श्रय दोष होगा। इस दोष का स्वरूप यह है कि – जब वाक्यार्थ ज्ञान हो जाय तब उनका ध्यान हो तथा जब ध्यान हो जाय तब ही वाक्यार्थ ज्ञान उत्पन्न हो सके। इस पर पुनः यह भी नहीं कहा जा सकता कि ध्यान तथा वाक्यार्थ ज्ञान इन दोनों का ही विषय अलग- अलग है क्योंकि वैसा मानने पर ध्यान वाक्यार्थ ज्ञान का साधन नहीं बन सकता है। किसी दूसरे विषय का ध्यान किसी अन्य विषय को जानने के लिए प्रेरित नहीं कर सकता। किञ्च ज्ञान के विषय के चिन्तन की अविछिन्न धारा को ध्यान कहते हैं। अतएव ध्यान को तो, वाक्यार्थ ज्ञानपूर्वक अवश्य मान ना होगा क्योंकि जो ब्रह्म ध्येय है उसके ज्ञान का तत्त्वमसि' आदिवाक्यों के अर्थ ज्ञान के अतिरिक्त कोई दूसरा साधन नहीं है।

यहाँ पर यह भी नहीं कहा जा सकता है कि जो ज्ञान ध्यान का मूल है वह वाक्यान्तर जन्य ज्ञान है तथा जो ज्ञान अविद्या का 'निवर्तक है वह' तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्य से जन्य है। दूसरी बात

यह है कि ध्यान के लिए ध्याता तथा ध्यान के विषय रूप अनेक प्रपञ्चों की अपेक्षा होती है। अतएव ध्यान–ध्येय आादि भेदों से युक्त ध्यान, प्रपञ्च रहित आत्मैकत्व विज्ञान के लिए उपयोगी नहीं हो सकता है। इस तरह वाक्यार्थ ज्ञानमात्र से अविद्या की निवृत्ति मानने वालों के मत में श्रवण, मनन, निदिध्यासन की विधि व्यर्थ सिद्ध होगी।

ने प्रकृत भाष्य खण्ड में ध्यान नियोगवादी के द्वारा जीवन मुक्ति के खण्डन को प्रस्तुत किया है। वे कहते हैं कि चूंकि वाक्य के द्वारा अपरोक्ष ज्ञान की उत्पत्ति नहीं हो सकती है अतएव सिद्ध होता है कि वाक्यार्थ ज्ञानमात्र से अविद्या की निवृत्ति नहीं हो सकती है, और इस प्रतिपादन से जीवन मुक्ति का भी खण्डन हो जाता है। यदि प्रश्न उठता है कि जीवन मुक्ति किसे कहते हैं? और उत्तर में यह कहें कि शरीर के रहते ही रहते मोक्ष का हो जाना ही जीवन्मुक्ति कहलाती है, तो यह कहना उसी तरह से बाधित है – जिस तरह से कोई यह कहे कि 'मेरी माँ बंध्या है।' क्योंकि श्रुतियों में ही प्रतिपादित है कि शरीर से युक्त होना ही बन्ध कहलाता है और शरीर से रहित हो जाने को मोक्ष कहते हैं।

पुनः यदि यह कहा जाय कि स्वयं के शरीर विशिष्ट होने की प्रतीति होते रहने पर भी जिसको इस बात का ज्ञान हो जाय कि यह प्रतीति मिथ्या है। उसके शरीर साहित्य की निवृत्ति हो जाती है, इसी को जीवन मुक्ति कहते हैं। तो ऐसा नहीं कहा जा सकता है- क्योंकि यह शरीर मुक्तत्त्व की प्रतीति मिथ्या ज्ञान है। यह इस प्रकार के ज्ञानमात्र से शरीर युक्तत्व का ज्ञान निवृत्त हो जाता है तो फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि शरीर से युक्त रहने पर भी मुक्ति का हो जाना ही जीवन्मुक्ति है। किञ्च ऐसी स्थिति में शरीर पात के पश्चात होने वाली मुक्ति तथा जीवन मुक्ति में कोई अन्तर   ही नहीं रह जायेगा। क्योकि शरीर पात के पश्चात्होने वाली मुक्ति में भी तो शरीर साहित्य के मिथ्यात्व का प्रतिभास होता ही है।

सद्विद्या प्रकरण में पठित 'तस्यतावदेवचिरंयावन्नविमोक्ष्यअथसम्पत्स्ये।' अर्थात् उस विद्या प्राप्त मुमुक्षु जीव की मुक्ति में तब तक ही देर होती है, जब तक कि उसका शरीर से सम्बन्ध समाप्त नहीं हो जाता है। तात्पर्यतःश्रुति कहती है कि मुक्ति के लिए शरीर पात होना आवश्यक है। साथ ही यह जीवन्मुक्ति का निषेध करती है कि जब तक शरीर संबंध बना रहता है तब तक मुक्ति सम्भव नहीं है।

इस कथन से इस बात का भी खण्डन हो जाता है कि वाक्यार्थ के ज्ञानमात्र से मोक्ष की प्राप्ति होती है। अद्वैत दर्शन के अनुसार समस्त भेदों की निवृत्ति ही मुक्ति कहलाती है, इस प्रकार की मुक्ति जीवनकाल में नहीं हो सकती अतएव जीवन मुक्ति के सिद्धान्त को नहीं स्वीकारा जा सकता है। अतएव ध्यान विधि का जो ब्रह्म का अपरोक्ष ज्ञान फल है। उसी के द्वारा संसार बंध की निवृत्ति होती है। उसी से मोक्ष होता है। यहाँ पर मायावादी यह भी नहीं कह सकते कि मोक्ष को यदि नियोगसाध्य मान लिया जाय तो फिर उसके अनित्यत्व का प्रसंग होगा। क्योंकि नियोगका साध्य तो मोक्ष प्राप्ति के प्रतिबंध कों की निवृत्ति है। मोक्ष नियोग का साध्य है ही नहीं। दूसरी बात यह है कि नियोग साक्षात्बंध की निवृति करने का कार्य नहींक रताहै, अपितु वह प्रपञ्चरहित ब्रह्म का ज्ञान करा कर बन्ध की निवृत्ति किया करताहै। नियोग तो ब्रह्म के अपरोक्ष ज्ञान को उत्पन्न करता है।

पुनः भाष्यकार ने भाष्यांश में ज्ञान नियोगवादियों के द्वारा मायावादियों के प्रश्नों का उत्तर प्रस्तुत करते हुए अनेक शङ्काओं का समाधान किया है।

यदि कोई (मायाबादी) यह प्रश्न करे कि नियोग किस तरह ज्ञानोत्पत्ति का साधन बनता है? तो ज्ञान नियोगवादी पुनः प्रति प्रश्न करता है कि आप (मायावादियों) के मत में फल की अभिलाषा से रहित होकर कि ये गये कर्मों के फल से वेदन की उत्पत्ति कैसे हो सकती है? यदि कहें कि उन कर्मों के करने से अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है, उसके पश्चात उस शुद्ध अन्तःकरण में ज्ञान की उत्पत्ति होती है तो मेरा उत्तर है कि ध्यान रूपी नियोग के द्वारा अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है फिर ज्ञानोत्पत्ति होती है। यदि अद्वैती विद्वान 'ममतुनिर्मल' इत्यादि कहें अर्थात् मेरे सिद्धान्त में तो मन के निर्मल होने पर 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्यों से ज्ञान की उत्पत्ति होती हैं। किन्तु नियोगवादी के मत में नियोग के द्वारा मन के निर्मल हो जाने पर ज्ञान की उत्पत्ति की सामग्री क्या होगी? तब उत्तर है कि – ध्यान रूपी नियोग से जब अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है तो वह निर्मल मन ही ज्ञान की उत्पत्ति की साधन बन जाता है। यदि आप पुनः पूछें कि यह आप को कैसे पता चलता है कि निर्मल मन ही ज्ञान की उत्पत्ति की साधन बन जाता है? तो मेरा (ध्यान नियोगवादी) का प्रति प्रश्न है कि आपको कैसे ज्ञात होता है कि निष्काम कर्मों के अनुष्ठान से मन निर्मल होता है। उस निर्मल मन में श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन के द्वारा आत्म-व्यतिरिक्त वस्तुओं से विमुख अधिकारी के मन में शास्त्र निवर्तक ज्ञान को उत्पन्न करता है।

सभी शास्त्र बतलाते हैं कि फलाभि सन्धिरहित कर्मों के अनुष्ठान से अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है। वही ज्ञान का साधन है। इस पर ध्यान नियोगवादी कहते हैं कि 'श्रोतव्योमन्तव्योनिदिध्यासितव्यः;, 'ब्रह्मविदाप्नोतिपरम्', 'मनसातुविशुद्धेन' इत्यादि श्रुति वाक्य बतलाते हैं कि मन ही ज्ञान का साधन है। इन समस्त वाक्यों के परिशीलन करने से ज्ञात होता है कि निर्मल मन ब्रह्म के साक्षात्कार रूप ज्ञान को उत्पन्न करता है। अतएव ध्यान-नियोगवादी के मत में कोई दोष नहीं है।

पुनः यदि वाक्यार्थ ज्ञानवादी यह कहें कि 'नेदंयदिदं उपासते' यह श्रुति ब्रह्म की उपासना का निषेध करती है तो यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि इस श्रुति में ब्रह्म के उपास्यत्व का निषेध नहीं अपितु यहाँ पर ब्रह्म के जग द्वैरूप्य का श्रुति प्रतिपादन करती है। इस वाक्य का अर्थ है कि जो जीव इस जगत्की उपासना करते है यह ही ब्रह्म है, ऐसा तुम मत जानो, अपितु जो वाणी के द्वारा परिछिन्न नहीं है अर्थात जिसे वाणी अपना विषय नहीं बना सकती, अपितु वाणी जिसके द्वारा बोलने का कार्य करती है, वही ब्रह्म है। यदि इस वाक्य का ऐसा अर्थ नहीं माना जाय तो उसके आगे के वाक्य से विरोध होगा क्योंकि आगे के वाक्य का अर्थ है" कि उसे ही तुम ब्रह्म जानो''।

तथा "निदिध्यासितव्यः" इत्यादि पदों के द्वारा ब्रह्म के ध्यान का जो विधान किया गया है। उस ध्यान विधि का भी आपके मतानुसार वैयर्थ्य होगा। अतएव यही मानना चाहिए कि ब्रह्म का साक्षात्कार ही जिसका फल है, उस ध्यान नियोग के द्वारा (ध्यान विधि के द्वारा) मिथ्या भूत सम्पूर्ण द्रष्टा, दृश्य आदि प्रपञ्चरूप बन्ध की निवृत्ति होती ही है।

भाष्यकार ने पूर्व में अनेक मतमतान्तरों को स्पष्टीकरण के उपरान्त अब भाष्कार मतावलम्बी की शङ्का का उत्थापन एवं उसका निराकरण भी अन्य मतावलम्बियों से तथा स्वयं भी उपस्थित करते हैं।

भेदा भेदवादी का यह कथन कि भेद तथा अभेद में कोई भी विरोध नहीं तो यह बात इससे समझनी चाहिए कि जिस तरह एक ही वस्तु उष्ण एवं शीत एक ही समय में नहीं हो सकती तथा जिस तरह अन्धकार एवं प्रकाश दोनों एक नहीं हो सकते उसी तरह एक ही वस्तु में भेद तथा

अभेद दोनों नहीं हो सकते हैं। यदि भाष्यकार मतावलम्बी यह कहें किस भी वस्तुओं की व्यवस्था उनकी प्रतीति के अनुसार ही करनी चाहिए। लोक में सभी वस्तुओं की प्रतीति भिन्न तथा अभिन्न रूप से होती हैं। किसी भी वस्तु की कारण रूप से तथा जाति रूप से अभेद की प्रतीति होती है तथा कार्य रूप से एवं व्यक्ति रूप से उसके भेद की प्रतीति होती है। सभी घट मृदात्मना अभिन्न हैं, किन्तु कार्यात्मनावे परस्पर भिन्न-२ प्रतीत होते हैं। अतएव सर्वत्र भेदाभेद स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

यदि यहाँ पर कोई यह कहे कि अभेद उसी तरह से समस्त भेदों को विनष्ट कर देता है, जिस तरह अग्नि-समस्त ईंधनों को जलाकर भस्म कर देती है। अतएव सर्वत्र भेदाभेद को स्वीकार नहीं किया जा सकता तो इस पर उत्तर देते हैं कि ऐसी बात नहीं है क्योंकि जाति-व्यक्ति आदि में परस्पर में नाश्यनाशकत्व रूप विरोध सम्बन्ध नहीं है। क्योंकि जो द्रव्य कारण रूप से पहले मिट्टी में रहता है वहीं कार्य रूप में घट रूप में अवस्थित रहता है। इसी तरह पहले सुवर्ण रूप में विद्यमान द्रव्य ही कार्यात्मना मुकुट के रूप में अवस्थित होता है। अतः भेद एवं अभेद में किसी प्रकार का विरोध होता ही नहीं है। इस पर यदि कोई यह कहे कि यह अभेद जातिगत हैं और भेद व्यक्तिगत है। तथा भेद एवं अभेद दोनों के आश्रय एक नही भिन्न-२ हैं। अन्ततः देश, काल, तथा आकार इन तीनों से अत्यन्त भिन्न वस्तुओं में भी यह वही है इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा होती है। अतएव यह मानना चाहिए कि कोई भी वस्तु भिन्न एवं अभिन्न इन दोनों प्रकारों से ही प्रतीत होती है। अतएव जाति एवं व्यक्ति में कारण तथा कार्य में अत्यन्त भेद का प्रतिपादन प्रतीति पराहत है।

यद्यपि ब्रह्म निरवयव है सर्वव्यापक हैं फिर भी बुद्धि आदि उपाधियों के भेद के कारण उसमें उसी तरह के भेद होता है जिस तरह घट आदि (पट, मठ आदि) उपाधियों के कारण निरवयव तथा सर्वगत आकाश के घटाकाश, मठाकाश आदि औपाधिक भेद होते हैं और यहाँ पर यह भी नहीं कहा जा सकता है कि- ब्रह्म से जब बुद्धि इन्द्रिय आदि उपाधियों से संयोग हो तो ब्रह्म भिन्न होगा। तथा जब ब्रह्म भिन्न होगा तब उसका बुद्धि तथा इन्द्रिय आदि का उपाधियों से संयोग होगा। इस तरह इस मान्यता से इतरेतरा श्रयत्व नामक दोष है क्योंकि उपाधि तथा उनके संयोग कर्मजन्य है, तथा उनका प्रवाह भी अनादि है। अतएव इसके विषय में अन्योन्या श्रयत्व दोष की शङ्का अनावश्यक है।

कहने का अभिप्राय है कि प्राचीन कर्मों से संबद्ध जीवों से जीव का संबंध होने पर ही उपाधि की उत्पत्ति होती है। और ब्रह्म से अभेद ही स्वाभाविक है तथा भेद औपाधिक है। इसी तरह शरीर इन्द्रिय आदि उपाधियों में भी परस्पर में एक दूसरे के साथ तथा ब्रह्म के साथ जैसे अभेद स्वाभाविक है, उसी तरह भेद भी स्वाभाविक है। चूंकि एक उपाधि की दूसरी कोई भी उपाधि नहीं होती है। अतएव एक उपाधि का कारण यदि दूसरी उपाधि को माना जाय तो उस उपाधि के भी कारण को जानने की अपेक्षा होगी। इस तरह अनन्ता पेक्षकत्व रूप अनवस्था दोष होगा। अतएव जीवों का जैसा प्राचीन कर्म होता है, उसी के अनुसार ब्रह्म से भिन्न तथा अभिन्न स्वभाव वाली उपाधियाँ उत्पन्न होती है।

भेदाभेदवादी भास्कर मतावलम्बी का उपर्युक्तपूर्व पक्ष उपस्थित होने पर ध्यान-नियोगवादी कहते हैं कि जितने भी वेदान्त वाक्य है वे अद्वितीय सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म विषयक ध्यान का विधान करते है। उन्ही वाक्यों से आत्मा एवं ब्रह्म की प्रतीति होती है। तथा भेद को ही अपना आश्रय बनाकर प्रवृत्त होने वाले कर्मशास्त्र तथा प्रत्यक्षादि प्रमाणों के द्वारा भेद की

प्रतीति होती है। भेद एवं अभेद दोनों परस्पर में विरोधी हैं। किञ्च अनादि अविद्यामूलक होने के कारण भी भेद की प्रतीति उत्पन्न हो जाती है। अतएव अभेद ही परमार्थ है तथा भेद मिथ्या है, यह कहा जा चुका है। इस समाधान पर पूर्वपक्षी (भास्कर मतावलम्बी) ने जो यह कहा कि भेद तथा अभेद दोनों ही प्रतिसिद्धहैत था दोनों को स्वीकार ने में कोई विरोध नहीं है तो उनका यह कथन युक्ति युक्तकथमपि नहीं है। क्योंकि किसी भी वस्तु की किसी भी वस्तु से जो विलक्षणता है, वही उस वस्तु की उस वस्तु से भेद है तथा किसी वस्तु की किसी वस्तु से होने वाली विलक्षणता के अभाव को ही अभेद कहते हैं। इस प्रकार भेद तथा अभेद क्रमशः किसी वस्तु परस्पर तथा भाव तथा अतथा भाव होते हैं। एक वस्तु का दूसरी वस्तु से बिल्कुल मिलना ही तथा भाव एवं विलक्षण होना अतथा भाव कहलाता है। ये दोनों एक नहीं हो सकते इस प्रकार यह ज्ञात हो हो गया कि यदि भेद एवं अभेद बिल्कुल भिन्न –भिन्न है। सर्वत्र भेदाभेद को मानने में तीन प्रकार का विरोध होता है -

i) भिन्नाधारत्व- भेद एवं अभेद दोनों का आधार भिन्न है।

ii) भेद तथा अभेद दोनों में सहानवस्था न दोष है अर्थात् दोनों एकत्र नहीं रह सकते हैं।

iii) नाश्यनाशक भाव रूप विरोध: अभेद, समस्त भेदों का नाश देता है।

वे कहते हैं कि चूंकि लौकिक वस्तुओं के विषय में भेदाभेदवाद की विरुद्धता का प्रतिपादन किया जा चुका है अतएव वैदिक विषयों में भी इस भेदा भेदवाद की मान्यता अनुपपन्न है। फलतः भास्कर मतावलम्बी ने जीव और ब्रह्म में जो भेदाभेद का प्रतिपादन किया है। वह सिद्ध नहीं हो सकता है। अतएव जीव और ब्रह्म में होने वाला अभेद अनन्यथा सिद्ध शास्त्र मूलक है, तथा भेद की प्रतीति अनादि अविद्या मूलक है। फलतः जीव और ब्रह्म में अभेद ही वास्तविक है भेद नहीं। इस पर यदि भास्कर मतवादी कहें कि- ऐसा मानने पर तो जीवों में होने वाले जो दोष है वे ब्रह्म के ही दोष हो जायेंगे। उसके फलस्वरूप अज्ञत्व, अज्ञानमूलक, जन्म, जरा, मरण आदि दोष भी ब्रह्म के ही दोष होंगे। किञ्च ऐसा मानने पर ब्रह्म को सर्वज्ञ तथा अखिलहेय प्रत्यनी कब तलाने वाली'यः सर्वज्ञ : सर्ववित्', 'एष आत्मापहतपाप्मा' आदि श्रुतियाँ बाधित हो जायेंगी।

इन श्रुतियों का अर्थ है- जो परमात्मा सभी वस्तुओं के स्वरूपतः जानने के कारण सर्वज्ञ है तथा प्रकारतः जानने के कारण सर्ववेत्ता है। यह आत्मा कर्म के बन्धनों से रहित है। तो भास्कर मतावलम्बी ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि हमारे (ध्यान नियोगवादी) के मत में जो अज्ञान आदि दोष हैं वे परमार्थ नहीं अपितु अपरमार्थ हैं। अतएव हमारे मत में वे दोष ब्रह्म में नहीं लगेंगे बल्कि वे सभी दोष भास्कर मतवादी के ही मत में होंगे। क्योंकि उनके यहाँ तो उपाधित था ब्रह्म से भिन्न कोई दूसरी वस्तु स्वीकार नहीं की जाती है। अतएव भास्कर मत में उपाधि का संबंध ब्रह्म से ही होगा और वे उपाधिजन्य जो दोष है जीवत्व, अज्ञत्व इत्यादि वे वहाँ परमार्थ होने के कारण ब्रह्म में ही प्रसक्त होंगे।

यदि भास्कर मतावलम्बी यह कहें कि यद्यपि ब्रह्म निरवयव तथा अच्छेध है। फिर भी जिस तरह से निरवयव तथा अच्छेद्य आकाश आदि उपाधियों से उपहित होकर घटाकाश, मठाकाश कहलाने लगता है। उसी तरह से ब्रह्म जब उपाधि से उपहित (आच्छादित) होता है, तब वह जीव कहलाने लगता है। वह जीव अणुपरिमाण वाला है। जीव का अणुत्व इसलिए स्वीकार किया जाता है कि उस का जो अवच्छेद कम न है वह अणुपरिमाण वाला है। किञ्च वह अनादि है। इस तरह से ब्रह्म का जो अंश उपाधि से उपहित होता है। उसी अंश में जीवत्व एवं

अज्ञत्व इत्यादि दोषों का संबंध होता है। ब्रह्म का जो अंश अनुपहित होता है उस अंश से उपाधियों तथा तज्जन्य दोषों का सम्बन्ध नहीं होता है।

तो भास्करवादियों से यह प्रश्न है कि क्या उपाधि के द्वारा काटा गया ब्रह्म का खण्ड अणु पर माणक जीव है? अथवा उपाधि के द्वारा नहीं काटे गये तथा अणु परिमाण उपाधि से संयुक्त कोई दूसरा चेतन जीव कहलाता है? या उपाधि ही जीव कहलाता है? इनमें से प्रथम विकल्प तो स्वीकार नहीं क्योंकि ब्रह्म अच्छेद्य है। यदि उपाधि के द्वारा ब्रह्म का छेदन स्वीकार भी करें तो फिर जीव को सादि स्वीकार करना होगा। एक ही वस्तु को दो विभाग में विभक्त करने को ही छेदन कहते हैं।

और यदि द्वितीय विकल्प स्वीकार करने पर तो ब्रह्म के ही प्रदेश विशेष में उपाधियों का सम्बन्ध स्वीकार करना होगा। फलतः उपाधि के सम्बन्ध में उत्पन्न होने वाले सभी दोष तो ब्रह्म में भी लगेगे। उपाधि के स्थानांतर में जाने पर उपाधि अपने साथ अपने से संबद्ध ब्रह्म को तो आकर्षित करके अपने साथ ले नहीं जा सकती है अतएव ब्रह्म के जिस प्रदेश को छोड़कर उपाधि जायेगी, उस प्रदेश का तो मोक्ष से सम्बन्ध हो ही जायेगा। और जिसन ये प्रदेश में वह जायेगी उस प्रदेश का बंध हो जायेगा। यह ठीक उसी तरह से होगा जिस तरह आकाश का उपाधि भूत घट है, वह जिस प्रदेश में रहता है, आकाश का वह प्रदेश घटा काश कहलाता है। किन्तु वह घट रूपी उपाधि यदि स्थानान्तर पर चला जाता है। तो पहले का आकाश प्रदेश मुक्त हो जाता है। और जिस स्थान पर घड़ा चला जाता है वह आकाश प्रदेश घटा काश कहलाने लगता है। इस तरह इस विकल्प को स्वीकारने पर तो क्षण-क्षण में बंध एवं मोक्ष का प्रसंग होगा। यदि उपाधि अपने साथ उस ब्रह्म प्रदेश को अपने साथ आकर्षित करके ले जाय तब तो चूंकि ब्रह्म का वह प्रदेश काटकर उपाधि अपने साथ तो ले नहीं जा सकती है। क्योंकि पहले ही कहा गया कि ब्रह्म अच्छेद्य है। अतएव मानना पड़ेगा कि सम्पूर्ण ब्रह्म को वह अपने साथ आकर्षित करके ले जाती है।

यदि इतने पर भी भास्करवादी यह कहें कि ब्रह्म अंशहीन है तथा वह सर्वत्र व्यापक है अतएव उसका आकर्षण संभव ही नहीं है तब तो यही मानना पड़ेगा कि उपाधि ही तत्तत्स्थानों में जाती है। ऐसी स्थिति में क्षण-क्षण में बंध एवं मोक्ष की प्रसंग रूप दोष होगा ही। ब्रह्म के जो प्रदेश अच्छिन्न हैं। उन समस्त ब्रह्म प्रदेशों से समस्त उपाधियों का संबंध मानने पर तो सभी जीवों के ब्रह्म के प्रदेश रूप से तथा एकरूप से अनुसंधान होने का प्रसंग होगा।

यदि यह कहें कि सभी जीवों के प्रदेश की भिन्नता के कारण उनके एकत्वानुसंधान का प्रसंग नहीं हो सकता तो, फिर यह तात्पर्य होगा कि ज्यों ही किसी जीव की उपाधि चलती है। उसी क्षण उसकी सत्ता भी समाप्त हो जाती है। इस तरह अपनी उपाधि के चलने पर भी एक भी जीव की प्रतीति नहीं हो सकती है।

पुन: तीसरे प्रश्न पर ध्यान नियोगवादी कहता है कि यदि भास्करवादी उपाधि से संयुक्त ब्रह्म का स्वरूप ही जीव कहलाता है यह स्वीकारे तो फिर ब्रह्म के स्वरूप के ही उपाधि से सम्बद्ध होने के कारण वह ब्रह्म ही जीव हो जायेगा। फलतः जीव से अतिरिक्त उपाधि रहित ब्रह्म की सिद्धि नहीं हो सकती किञ्च सभी शीरों में रहने वाला जीव एक ही होगा। ध्यान नियोगवादी यह माने कि उपाधि से संयुक्त कोई दूसरा चेतन जीव कहलाता है। तो भी जीव ब्रह्म जीव से भिन्न ही सिद्ध होगा। ऐसी स्थिति में भास्कर मतावलम्बी यह नहीं कह सकते हैं कि ब्रह्म का औपाधिक भेद जीव है। पुनः भास्करवादी उपाधि को ही जीव कहते है तो वे देहात्मवादी इत्यादि चार्वाकों

के ही मत में प्रविष्ट हो जायेंगे। क्योंकि आप (भास्करवादी) देह, इन्द्रिय, मन आदि को ही उपाधि मानते हैं। और यदि उपाधि ही आत्मा हो जायेगी, तब तो देह, इन्द्रिय, मन आदि को ही आप जीव स्वीकार कर लिए और चार्वाक मतवादी भी देहादि को ही आत्मा मानते हैं।

अतएव भास्करवादियों को भी यही चाहिए कि वे अभेद शास्त्र के द्वारा अभेद को ही पारमार्थिक स्वीकार करके प्रतीत होने वाले सम्पूर्ण भेदों को अविद्यामूलक स्वीकार कर लें। अतएव चूंकि शास्त्र का यही प्रयोजन है कि वे जीव को किसी अच्छे काम में प्रवृत्त करे एवं बुरे से निवृत्त करें उस शास्त्र का प्रामाण्य स्वीकार करने पर भी चूंकि वेदान्तों के वाक्य ध्यान विधि के पूरक (शेष) है, अतएव ब्रह्म के स्वरूप में उनका प्रामाण्य उपपन्न हो जाता है।

ध्यान नियोगवादियों का उपर्युक्त मत उचित नहीं हैं। यद्यपि वेदान्तों के वाक्य ध्यान विधि के पूरक है। फिर भी अपने प्रतिपाद्य अर्थ सिद्ध ब्रह्म की सत्यता में प्रमाण नहीं बन सकते। कहने का अभिप्राय यह है कि वेदान्त वाक्य ब्रह्म के स्वरूप में किस तरह से प्रमाण बनते हैं? ब्रह्म के स्वरूप को अपना विषय बनाने वाले वेदान्त वाक्य ध्यान विधि के साथ एकत्व कोराप्त करके ब्रह्म के स्वरूप में प्रमाण बनते हैं? अथवा वे स्वतंत्र रूप से ब्रह्म के स्वरूप में प्रमाण बनते हैं?

इस पर यदि कहें कि ध्यान विधि के द्वारा एकता को प्राप्त होकर सभी वेदान्त वाक्य ब्रह्म के स्वरूप का प्रतिपादन करते हैं। तो ऐसा नहीं कहा जा सकता है क्योंकि ध्यान विधि का प्रतिपादन करने पर उनका तात्पर्य ब्रह्म के प्रतिपादन में नहीं माना जा सकता है। स्वतंत्र रूप से अलग-अलग वेदान्त वाक्यों को ब्रह्म के स्वरूप का प्रतिपादक इसलिए नहीं माना जा सकता कि उसके प्रवृत्ति एवं निवृत्ति रूप कोई भी प्रयोजन नहीं है। अतएव वेदान्त वाक्य ब्रह्म रूप अर्थ के बोधक नहीं हो सकते हैं। यहाँ पर यह भी नहीं कहा जा सकता है कि – ध्यान तो स्मृति सन्तान रूप होता है। और उसका निरूपण बिना ध्येय के किया नहीं जा सकता है। अब प्रश्न उठता है कि इस ध्यान विधि का ध्येय स्मार्तव्य-विशेष कौन है? तो उस ध्येय ब्रह्म के स्वरूप तथा उसकी विशेषताओं आदि का प्रतिपादन 'इदंसर्वंयदयमात्मा', 'ब्रह्मसर्वानुभूः', 'सत्यंज्ञानंअनन्तंब्रह्म' आदि श्रुति वाक्य करते हैं। इस तरह इन समस्त वाक्यों की एक वाक्यता होने के कारण ये सभी वेदान्त वाक्य ब्रह्म में प्रामाण्य भाव को प्राप्त करते हैं।

यद्यपि ध्यान विधि को स्मर्तव्य विशेष की अपेक्षा होती है। फिर भी 'नामब्रह्म' अर्थात् 'नामकी ब्रह्म रूप से उपासना करो' इत्यादि वाक्यों में जो देखी गयी दृष्टि विधि है। उसमें विशेष्य की सत्यता रहने पर भी विशेषण की असत्यता होने के कारण विशिष्ट की असत्यता अवश्य होगी अतएव वेदान्त वाक्यों के प्रवृत्ति तथा निवृत्ति रूप प्रयोजन से रहित होने के कारण उसके ध्यान विधि का शेष (पूरक) होने पर भी चूंकि उसका पर्यवसान ध्येय विधि विशेष के स्वरूप मात्र के प्रतिपादन मात्र में होता है; अतएव सभी वाक्यों को पृथक-पृथक मान लेने पर भी बालकों तथा रोगियों को भुलवा देने के लिए कहे गये वाक्य के समान ज्ञानमात्र से ही उनकी पुरुषार्थ प्रतिपादकता की सिद्धि हो जाती है। अतएव सिद्धि वस्तु की सत्यता का उनका विषय नहीं होने के कारण सिद्ध होता है कि ब्रह्म में वेदान्त शास्त्र प्रमाण नहीं बन सकता है।

ध्यान-नियोगवादी का प्रभाकर मीमांसको ने तथा इसके भी पूर्व ध्यान नियगवादियों ने भास्कर मतवादियों का खण्डन किया था परन्तु अब आचार्य भाष्यकार रामानुज प्रभाकरा दि मीमांसकों के मत का खण्डन एवं सिद्धान्त स्थापनार्थ उपक्रम करते हुए कहते हैं कि मीमांसकों द्वारा उपर्युक्त प्रकार का पूर्व पक्ष स्थापित किये जाने पर सिद्धान्त रूप से 'तत्तुसमन्वयात' (शा०मी०) यह सूत्र उपस्थित होता है। इस सूत्र का अभिप्राय है कि ब्रह्म का पुरुषार्थ रूप से अन्वय वाक्य

में होता है। सम्यक अन्वय को समन्वय कहते है। समन्वय का अर्थ है पुरुषार्थ रूप से अन्वय। तो प्रश्न है कि किसका किसके साथ अन्वय? तो इसके उत्तर में साक्षात्श्री भाष्यकार कहते हैं कि "परम पुरुषार्थ भूतस्य इत्यादि" अर्थात्ब्रह्म ही परम पुरुषार्थ स्वरूप है क्योंकि वे अद्वितीय, सर्वोत्कृष्ट तथा आनन्द स्वरूप है। उस परम्ब्रह्म का ही अभिधेय रूप हो अन्वय होता है। सूत्र के तत्पद की व्याख्या करते श्रीभाष्यकार कहते हैं कि 'तत्शास्त्र प्रमाण कत्वम्' अर्थात् ब्रह्म का शास्त्र प्रमाण कत्वसिद्ध ही होता है। अतएव ब्रह्म में शास्त्र ही केवल प्रमाण है।

श्रीभाष्यकार इसके प्रमाण में कहते है कि 'निरस्ता निखिल दोष इत्यादि' अर्थात्वेदान्तों के वाक्य समूह इस बात को बतलाते हैं कि पर ब्रह्म में कोई भी दोष नहीं है अतएव वे निरस्त निखिल दोष हैं। पर ब्रह्म सर्वोत्कृष्ट आनन्द स्वरूप भी है। इसके विषय में मीमांसक मतानुयायियों ने कहा कि चूंकि शास्त्र के दो ही प्रयोजन होते हैं प्रवृत्ति रूप एवं निवृत्ति रूप। अर्थात्शास्त्र अपने उपदेश के द्वारा अच्छे कामों से प्रवृत्त एवं बुरे कर्मों से निवृत्त करता है। किन्तु वेदान्त वाक्यों में इन दोनों ही प्रकार के प्रयोजनों का अभाव है। अतएव उनका प्रयोजन में पर्यवसानन होने के कारण वे ब्रह्म के बोधक नहीं है। मीमांस कम तानुयायियों का यह कथन उसी तरह उपहास्या स्पद है, जैसे कोई यह कहे कि इस राजवंश में उत्पन्न पुरुष का जीवन प्रयोजन शून्य इसलिए है कि यह चाण्डाल के वंश में प्रविष्ट नहीं हो गया। कहने का अभिप्राय यह है कि शास्त्र उपदेश देता है कि अनादि कर्मरूपी अविद्या से आच्छन्न वह जीवों के परावरत्व (परमात्मतत्व) के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान तिरोहित हो जाता है।

ऐसे जीव - देवता, असुर, गन्धर्व, सिद्ध, विद्या धर, किन्नर, किंपुरुष, यक्ष, राक्षस, पिशाच, मनुष्य, पशु, पक्षी, सरीसृप, वृक्षगुल्म, लता तथा दूर्वा आदि हैं। इन बद्ध जीवों के स्त्री, पुरुष तथा नपुंसक भेद है। तथा जिनके धारक पोषक तथा भोग्य विशेष निश्चित हैं। ऐसे मुक्त जीवों के तथा अपने भी अनुभव सामान्य के विषय होने पर भी पर ब्रह अपने स्वरूप, रूप, गुण, विभव तथा चेष्टाओं के द्वारा निस्सीम तथा सर्वोत्कृष्ट आनन्द को उत्पन्न करने वाले हैं। इस तरह से उपदेश करने वाले वेदान्त वाक्यों का प्रयोजन में पर्यवसान हो ही जाता है। केवल प्रवृत्ति निष्ठ एवं निवृत्ति निष्ठ वाक्यांशो तो समस्त पुरुषार्थों के अन्वय को बोध नहीं होता है। अतएव ऐसे वाक्यों का प्रयोजन में पर्यवसा न भी नहीं होता है।

11.2.3 ब्रह्मप्राप्ति का उपाय

अनेकानेक पूर्व पक्षकारों के प्रश्नों का उत्तर एवं शङ्काओं का समाधान करते हुए अब श्रीभाष्यकार उस पर ब्रह्म की प्राप्ति का उपाय उस पर ब्रह्म की ही उपासना को बतलाते है तथा इसी के समर्थन में अनेक श्रुतिया क्यों तथा लौकिकव वैदिक दृष्टान्तों को भी प्रस्तुत करते हैं। वे स्वयं कहते हैं कि – अब प्रश्न उठता है कि इस प्रकार की गुण गण से विशिष्ट ब्रह्म की प्राप्ति कैसे हो सकती है? तो उत्तर में भगवान भाष्यकार कहते हैं कि ब्रह्म की प्राप्ति का उपाय ब्रह्म की ही उपासना है और इस अर्थ का प्रतिपादन अनेक निम्नांकित वाक्य करते हैं-

i) 'ब्रह्मविदाप्नोतिपरम्' अर्थात्जो ज्ञानी पुरुष ब्रह्म की उपासना करते हैं वे परम पुरुषार्थ रूप ब्रह्म को प्राप्त कर लेते हैं।

ii) आत्मानंलोकमुपासीत्'अर्थात्सम्पूर्ण जगत्की ब्रह्मात्मक रूप से उपासना करें।

ये सभी श्रुतियाँ वेदन आदि शब्दों के द्वारा उपासना को ही ब्रह्म की प्राप्ति का साधन बतलाती हैं। पुन: इसी तथ्य को दृष्टान्त के द्वारा भाष्यकार सुदृढ़ करते है कि जैसे किसी के इस बात को

तत्तु समन्वयात् (ब्रह्मसूत्र 1.1.4, श्रीभाष्य)

सुनकर किसी को प्रसन्नता होती है कि तुम्हारे घर में ही निधि (धन-धान्यादि) है। इस वाक्य से अपने घर में निधि के सदभाव को जानकर सुनने वाले को पहले प्रसन्नता होती है। उसके पश्चात वह मनुष्य उस निधि को प्राप्त करने का प्रयास करता है।

पुनः अपर दृष्टान्त प्रस्तुत करते हैं कि जैसे कोई राजकुमार बालकों के साथ खेलता हुआ राजभवन से बाहर निकल गया। जिसको स्वयं भी अपने पिता का ज्ञान नहीं है। उस बालक को रास्ता भूल जाने तथा घर न लौटने पर राजा यह समझ लेता है कि बालक नष्ट हो गया। संयोग वशात्व ही बालक एक ब्राह्मण को मिल जाता है तथा ब्राह्मण उसका पालन-पोषण कर वेद-वेदाङ्ग आदि में पारंगत बना देता है। जब वह 16 वर्ष का होकर पूर्ण युवक हो गया तथा समस्त कल्याणकारी गुण समूहों से युक्त हो गया तब कोई अत्यन्त प्रामाणिक पुरुष उसे बतलाता है कि तुम्हारे पिता संपूर्ण संसार के स्वामी हैं। वेगाम्भीर्य, औदार्य, वात्सल्य, सौशील्य, शौर्य, वीर्य, पराक्रम आदि गुणों से सम्पन्न हैं। वे अपनी राजधानी में विराजमान हैं। भूले हुए अपने पुत्र तुम को वे देखना चाहते हैं। उस प्रामाणिक पुरुष की बातों को जब युवक सुनता उसी समय उसको इस बात को जानकर अत्यन्त हर्ष होता है कि मेरे पिता जीवित हैं तथा वे समस्त प्रकार के सम्पत्तियों से सम्पन्न हैं।

पुनः भाष्यकार ने परमात्मा को स्वयं अपने अन्दर को विद्यमान है ऐसा न जानेने वाले जीव को प्रकृत दृष्टान्त से मिलाने का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं कि राजा भी जब यह जान लेते हैं कि मेरा पुत्र जीवित एवं निरोग है; तथा उसकी आकृति अत्यन्त मनोहर है तथा उसने समस्त जानने योग्य विद्याओं को जान लिया है, इस बात को सुनकर उसके (राजाके) समस्त पुरुषार्थ प्राप्त हो जाते हैं। उसके पश्चात्राजा भी अपने उस पुत्र को प्राप्त करने का प्रयास करते हैं तथा वे दोनों परस्पर एक दूसरे से मिल भी जाते हैं।

इस दृष्टान्त के सभी पदसाभि प्राय प्रयुक्त है। यहाँ पर जो निधि तथा राजकुमार के दृष्टान्त दिये गये हैं उनका अभिप्राय है कि चेतनों तथा अचेतनों दोनों के लिए होने वाला भोग्यत्व ब्रह्म में है। श्रुति भी कहती है -'तद्यथाहिरण्यनिधिनिहितमक्षेत्रज्ञाःउपर्युपरिसञ्चरन्तोनविन्देयुः' अर्थात्- वे जीव, जो क्षेत्र के नाम से सम्पन्न नहीं हैं, वे धन बनाने के लिए उसी क्षेत्र के ऊपर से संचरण करते हैं जिस क्षेत्र में सुवर्ण का खजाना गड़ा हुआ रहता है। उसी तरह से अपने हृदय में विद्यमान परमात्मा को नहीं जान पाने वाले जीव परमात्मा की प्राप्ति के लिए विभिन्न साधनों को भी अपनाते हैं।

ब्रह्म सम्पूर्ण जगत के अभिन्ननिमित्तोपादान कारण हैं, ऐसा श्रुतियाँ भी कहती है। भाष्यकार शंका समाधान करते हुए कहते हैं कि मीमांसकों ने यह जो कहा है कि परिनिष्पन्न (सिद्ध) वस्तु ब्रह्म को विषय बनाने वाले वेदान्त वाक्यों के विषय का सद्भाव नहीं रहने के कारण उसी तरह से प्रामाण्य नहीं स्वीकार किया जा सकता है। जिस तरह बालकों तथा रोगियों को भुलवा देने के लिए कही गयी बातों का प्रामाण्य नहीं होता है। क्योंकि उन वाक्यों का अर्थ ज्ञान होने मात्र से प्रयोजन के पर्यवसान हो जाता है। तो उनका यह कथन उचित नहीं है क्योंकि अर्थ विषय के सद्भाव के अभाव का निश्चय हो जाने पर उस वाक्य का जो अर्थ होता है। वह पुरुषार्थ प्रद नहीं होता। बालकों तथा रोगियों को भुलवा देने के लिए कहे गये वाक्यों के अर्थ के सद्भाव की जब भ्रान्ति होती है तब वे (बालक और रोगी) उस वाक्य को सुनकर प्रसन्न हो जाते हैं। उन बालकों तथा रोगियों को उस वाक्य के अर्थ का ज्ञान रहने पर भी यदि उन सबको इस बात का निश्चय हमें जाय कि उस वाक्य का जो अर्थ है उसका सद्भाव है ही नहीं तो फिर उसी समय उन सबके

हर्ष इत्यादि समाप्त हो जाते हैं।

इसी तरह उपनिषदों के वाक्यों के भी विषय में यदि यह निश्चय हो जाय कि इन वाक्यों का तात्पर्य ब्रह्म के अस्तित्व के प्रतिपादन में नहीं है, तो फिर उन वाक्यों के द्वारा ब्रह्म रूप अर्थ का ज्ञान रहने पर भी उन वाक्यों का पुरुषार्थ में पर्यवसान नहीं होगा। अतएव यही स्वीकार करना चाहिए कि -'यतोवाइमानिभूतानिजायन्तेयेनजातानिजीवन्ति' इत्यादि वेदान्त वाक्य इस बात का प्रतिपादन करते हैं कि ब्रह्म सम्पूर्ण जगत्के ही अभिन्न निमित्तोपादान कारण है। उनको किसी भी दोष की गन्ध भी नहीं है। वे सर्वज्ञ, सत्यसङ्कल्पत्व आदि अनन्त कल्याणमय गुणों के एकमात्र आश्रय हैं; तथा निस्सीम एवं सर्वोत्कृष्ट आनन्द स्वरूप हैं। इस प्रकार के ब्रह्म का बोधन वेदान्त वाक्यों से होता है।

11.3 सारांश

'तत्तु समन्वयात्' सूत्र में तीन पद 'तत्', 'तु' एवं 'समन्वयात्' हैं। 'तु' पद से पूर्वपक्षके इस मत कि प्रवृत्ति तथा निवृत्ति परत्वाभाव के कारण शास्त्रसिद्ध ब्रह्म का बोधक नहीं हो सकता,का निराकरण है। 'तत्' पद का अर्थ है किब्रह्म शास्त्रप्रमाणक ही है। 'समन्वयात्' का तात्पर्य है समस्त शास्त्र ब्रह्म को परम् पुरुषार्थरूप से स्वीकृत करने में समन्वित हैं।

भाष्यकार के अनुसार उपनिषदों के पद समुदाय परम पुरुषार्थरुप ब्रह्म के प्रतिपादक रूप से ही समन्वित होते है अर्थात् अनेक उपनिषद् ब्रह्म वाक्य अपने समर्थन (समन्वय) द्वारा उस ब्रह्म का प्रतिपादन करते हैं। 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते', 'सदेवसोम्येदमग्रमासीत् एकमेवाद्वितीयम्', 'ब्रह्मवा इदमेकमेवाग्र आसीत्', 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्', 'तस्माद्वा एतस्मादात्मनः आकाशः संभूतः', 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म', 'आनन्दो ब्रह्म इत्येवमादिः'श्रुतिवाक्यतात्पर्यतः ब्रह्म का समन्वितार्थ में प्रतिपादन करते हैं।

इसके विषय में मीमांस कमतानुयायियों ने कहा कि चूंकि शास्त्र के दो ही प्रयोजन होते हैं प्रवृत्ति रूप एवं निवृत्ति रूप। अर्थात्शास्त्र अपने उपदेश के द्वारा अच्छे कामों से प्रवृत्त एवं बुरे कर्मो से निवृत्त करता है। किन्तु वेदान्त वाक्यों में इन दोनों ही प्रकार के प्रयोजनों का अभाव है। अतएव उनका प्रयोजन में पर्यवसान न होने के कारण वे ब्रह्म के बोधक नहीं है। मीमांस कमतानुयायियों का यह कथन उसी तरह उपहास्यास्पद है जैसे कोई यह कहे कि किसी राजवंश में उत्पन्न पुरुष का जीवन प्रयोजन शून्य इसलिए है क्योंकि वह चाण्डाल के वंश में प्रविष्ट नहीं हो गया है। निष्कर्षतः ब्रह्म सर्वज्ञ, सत्यसङ्कल्पत्व आदि अनन्त कल्याणमय गुणों के एकमात्र आश्रय हैं तथा निस्सीम एवं सर्वोत्कृष्ट आनन्द स्वरूप हैं। ऐसे ब्रह्म का श्रुतियों में परम पुरुषार्थ के रूप से समन्वय प्रतिपादित किया गया है।

11.4 शब्दावली

समन्वय, पुरुषार्थ, निष्प्रपंचवाद, नियोगवाद, जीवनमुक्ति, संसरण, ध्यान, उपासना, विधि, भक्ति, जीव, मायावाद, उपाधि, भेदाभेद, परमार्थ।

11.5 कुछ उपयोगी पुस्तकें

- श्रीभाष्यम्, संस्कृत संशोधन संसत्, मेलुकोटे, 1985
- श्रीभाष्यम्, (हिन्दी व्याख्याकार) शिवप्रसाद द्विवेदी, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 2009

- श्रीभाष्य, (हिन्दी व्याख्याकार) ललित कृष्ण गोस्वामी, निम्बार्क पीठ, प्रयाग, सं. 2030
- The Vedantasutras with the Sribhashya of Ramanujacharya, M. Rangacharya & M. B. Varadraja Aiyangar, The Brahmavadin Press, Madras, 1899

11.6 अभ्यास प्रश्न

i) 'तत्तु समन्वयात्' सूत्र का अभिप्राय स्पष्ट कीजिए?

ii) 'ध्यान-नियोगवाद' का विवेचन कीजिए ?

iii) अद्वैत वेदान्त में जीवनमुक्ति का स्वरूप बताईये ?

iv) विशिष्टाद्वैत मत में ब्रह्म की प्राप्ति में श्रुतिप्रमाण क्या हैं ?

11.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

i) विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के अनुसार ब्रह्म शास्त्रप्रमाणक है ।ब्रह्म की यह शास्त्र प्रमाणकता श्रुतियों के ब्रह्म में समन्वय से ज्ञात होती है । परम पुरुषार्थ रूप से होने वाले अन्वय को समन्वय कहते हैं। परम् पुरुषार्थरूप ही ब्रह्म का अभिधेय रूप से शास्त्र के साथ अन्वय सम्बन्ध होता है अर्थात् शास्त्र ब्रह्म का परम पुरुषार्थ रूप से प्रतिपादन करता है।

ii) ध्यान नियोगवाद का मत है कि वेदान्त के वाक्यों में ध्यान विषयिणी ही विधि है। इन विधिवा क्यों का विषय भूत जो ब्रह्म का निरुपण ध्यान के द्वारा ही किया जा सकता है। अतएव यह नियोग ध्येय भूत ब्रह्म का आक्षेप करता है। विनियोग के द्वारा ध्येय 'आत्मा' ही है जिसका स्वरूप 'सत्यं ज्ञानमनन्तंब्रह्म', 'सदेव सोम्येदमग्रमासीत्एकमेवाद्वितीयम् इत्यादि श्रुति वाक्यों में प्रतिपादित है ।

iii) अद्वैत वेदान्त के अनुसार जब कोई साधक गुरु के द्वारा 'तत्त्वमसि' महावाक्य का अखण्डार्थ बोध कर लेता है तथा स्वयं 'अहं ब्रह्मास्मि' का अनुभव कर लेता है तो उसे ब्रह्मसाक्षात्कार हो जाता है । इस स्थिति में शरीर के विद्यमान रहते परमोक्ष की सिद्धि हो जाती है, यही जीवन्मुक्ति कहलाती है ।

iv) विशिष्टाद्वैत मतानुसार ब्रह्म की प्राप्ति का उपाय ब्रह्म की ही उपासना है और इस अर्थ का प्रतिपादन अनेक निम्नांकित वाक्य करते हैं-

  i) 'ब्रह्मविदाप्नोतिपरम्' अर्थात्जो ज्ञानी पुरुष ब्रह्म की उपासना करते हैं वे परमपुरुषार्थ रूप ब्रह्म को प्राप्त कर लेते हैं।

  ii) 'आत्मानंलोकमुपासीत्'अर्थात्सम्पूर्ण जगत्की ब्रह्मात्मक रूप से उपासना करें। ये सभी श्रुतियाँ वेदन आदि शब्दों के द्वारा उपासना को ही ब्रह्म की प्राप्ति का साधन बतलाती हैं।